॥श्रीश्री गुरु -गौराङ्गौ जयतः॥

नीलाचल में महाप्रभु — वेदान्त व्याख्यान

नीलाचल में सार्वभौम के पास
श्रीमन् महाप्रभु द्वारा वेदान्त व्याख्यान

श्रीस्वरूपरूपानुगवर्य्य -श्रीलभक्तिविनोद
गौरवाणीप्रेष्ठ श्रीगौड़ीय वैष्णवाचार्य
वर्य ॐ विष्णुपाद परमहंस ठाकुर श्रीश्रील
भक्ति सिद्धान्त सरस्वती -गौड़ीय गोष्ठीपति
के संकीर्तन सेवाध्यक्षता में
प्रकाशित किया गया।

Edited by: Śrī Śyāma Dāsa Bābā

श्रीश्रील भक्ति सिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी ठाकुर प्रभुपाद

नीलाचल में वेदान्त व्याख्यान

श्रीगौड़ीय गोष्ठीपति परमहंस आचार्यवर श्रीश्रीमद् भक्ति सिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी ठाकुर प्रभुपाद के अन्यतम प्रिय पार्षद नित्यलीला प्रविष्ट ॐ विष्णुपाद श्रीमद् भक्ति प्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराज के प्राणप्रिय शिष्य प्रवर श्री गौड़ीय वेदान्त समिति के भूतपूर्व आचार्य श्रीश्रील भक्ति वेदान्त वामन गोस्वामी महाराजजी के अशेष कृपा आशीर्वाद प्रार्थना लेकर श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति, श्रीधाम नवद्वीप से प्रकाशित किया गया।

प्रकाशन तिथि
श्रीगौरपूर्णिमा, ५ ई मार्च सन् २०१५

प्रकाशक—श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति, श्रीधाम नवद्वीप
सम्पादक—श्रीश्याम दास बाबा
(पूर्व प्रकाशित बांग्ला ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद)
उपसम्पादक—ओमप्रकाश ब्रजवासी (एम.ए.एल.एल.बी.साहित्यरत्न) प्रधानसहायक—श्रीपाद तमालकृष्ण प्रभु —: प्राप्तिस्थान :—
(१) श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति, श्रीधाम नवद्वीप
(२) श्रीभक्ति वेदान्त गौड़ीय मठ, कनखल, हरिद्वार
(३) इमली तला सिद्धपीठ, महाप्रभु मन्दिर, श्रीधाम वृन्दावन (४) श्रीगौरांग संकीर्तन आश्रम, भागीरथी पाड़ा, स्वरूपगंज, नवद्वीप धाम

मुद्रण संख्या—२०००
विशेष द्रष्टव्य यह ग्रन्थ बंगला और हिन्दी में प्रकाशित है, अंग्रेजी में भी प्रकाशित होने की आशा है। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥

नीलाचल में वेदान्त व्याख्यान
सम्पादक की अन्तर्दृष्टि
बाह्य प्रज्ञाचालित आध्याक्षिक दर्शन
के वशीभूत नैयायिक श्रेष्ठ सार्वभौम भट्टाचार्य महाशय पहले विचार से साक्षात भगवान श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु को साधारण रूप में एवं पूर्व ग्राम सम्बन्ध से आदर करने में बहुत व्यस्त रहा करते थे, किन्तु उनको साक्षात् भगवान मानने के लिए बिल्कुल भी सहमत नहीं थे। महाभागवत श्रीगोपीनाथ आचार्य महाशय ने शास्त्र युक्ति द्वारा उनके मायावाद द्वारा आछन्न तथा परिच्छन्न कुत्सित जड़-दर्शन को दूर करने में यथेष्ट प्रयास कर अन्त में निरस्त हुए एवं बोले—
“अनुमान प्रमाण नहे ईश्वर तत्व ज्ञाने।
कृपा बिना ईश्वररे केह नाहि जाने॥
ईश्वरेर कृपालेश हयत’ याहारे।
सेईत’ ईश्वर तत्व जानिवारे पारे॥
यद्यपि जगदगुरु तुम शास्त्रज्ञानवान।
पृथिवीते नाहि पण्डित तोमार समान॥
ईश्वरेर कृपालेश नाहिक तोमाते।
अतएव ईश्वर तत्व न पार जानिते॥
तोमार नाहिक दोष, शास्त्रे एइ कहे।
पाण्डित्याद्ये ईश्वरतत्व-ज्ञान कभु नहे॥”
— (चैः च: म: ६/८२-८७)
सत्यसंकल्प भगवान भक्त संकल्प से अवगत होकर दयाई चित्त में उनकी इच्छा को पूर्ण करने के लिए सार्वभौम के प्रति चरम करुणा विस्तार करने के उद्देश्य से उनके समीप वेदान्त श्रवण की लीला को प्रकाशित किया एवं

अन्त में प्रमाणित किया कि गौड़ीयगण ही विशुद्ध वैदान्तिक, कारणविद्ध वैदान्तिक सिद्धान्त स्थापन में कष्ट कल्पना और वृथा युक्ति तर्क के आश्रय का प्रयोजन होता है किन्तु विशुद्ध वैदान्तिक सिद्धान्त स्वतः प्रकाशित एवं सूक्ष्म भक्ति तात्पर्य पर है। मायावाद-असत् सिद्धान्त स्थापन में अपने उद्यम अर्थात अपनी कु-युक्ति-तर्क निरस्त होने पर सार्वभौम भट्टाचार्य बहुत निराश हुए। किन्तु साक्षात् भगवान श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु के श्रीमुख से (पूर्वापर) शुरू से अन्त तक सुनिर्मल वैदान्तिक सिद्धान्त श्रवण करके परम आश्चर्यान्वित हुए एवं उनकी कृपा से अपने स्वरूप से अवगत हुये, बाद में परम भक्त (प्रेमी भक्त) रूप से आत्मप्रकाश किया। सत्- चित्-आनन्द घन दिव्य श्रीमूर्ति (षड्भुज) दर्शन से मूर्छित हो गये एवं मूर्छा समाप्त होने पर-मुहूर्त में सौ श्लोकों द्वारा प्रभु का स्तव किया श्रीसार्वभौम के प्रति श्रीमन्महाप्रभु ने कहा—
“शतश्लोक करि ये तुमि कैले स्तवन।
ये जन करिवे ईहा श्रवण पठन॥
आमाते ताहार भक्ति हइबे निश्चय।
सार्वभौम शतक ये हेन कीर्ति रय॥” (श्रीचैतन्य भागवत)
अन्त में श्री सार्वभौम ने स्वयं स्वीकार किया—
वैराग्यविद्यानिजभक्ति
योगशिक्षार्थमेकः पुरूषः पुराणः। श्रीकृष्णचैतन्य शरीरधारी कृपांबुधिर्यस्तमहं प्रपद्ये॥

कालान्नष्टं भक्तियोगं निजं यः प्रादुष्कर्तुं कृष्णचैतन्य नामा। आविर्भूतस्य पदारविन्दे गाढ़ं गाढ़ं लीयतां चित्तभृङ्गः॥
(श्री सार्वभौम मुखोक्त वाणी)
श्रीचैतन्य चन्द्रोदय नाटक
इस ग्रन्थराज का निगूढ़ अभिप्राय-श्रीगौड़ीयपर विशुद्ध वैदान्तिक सिद्धान्त स्थापन, जो कि स्वयं भगवान श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु श्री मुखोक्त है। जिसका अनुशीलन करने पर विशुद्ध भक्ति धन प्राप्त होता है।
* * *

प्रभु बले,-“कृष्ण भक्ति हक सबार।
कृष्ण-नाम-गुण-वई ना बलिह आर॥
आपने सबारे प्रभु करे उपदेशे।
“कृष्ण-नाम मह्यमन्त्र शुनह हरिषे॥
“हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥”
प्रभु बले,-“कहिलाङ एई महामन्त्र।
इहा जप गिया सवे करिया निबंध॥
इहा हईते सर्व-सिद्धि हइबे सबार।
सर्वक्षण बल’ इथे विधि नाहि आर॥”
— (चैः भाः म: २३-७८)

नीलाचल में महाप्रभु का वेदान्त व्याख्यान एकदिन महाप्रभु ने परमानन्द से परिपूर्ण चित्त से सार्वभौम भट्टाचार्य के साथ श्रीजगन्नाथ का दर्शन कर भट्टाचार्य के भवन में आगमन किया। भट्टाचार्य ने महाप्रभु को आसन प्रदान कर स्वयं दूसरे आसन पर उपविष्ट होकर कहने लगे,
सार्वभौम—कृष्णचैतन्य! वेदान्त श्रवण करना संन्यासी का धर्म है। आप नये संन्यासी हैं इसलिए, आपको निरन्तर वेदान्त श्रवण करना उचित है।
वेदान्त वाक्येषु सदा रमन्तो, भिक्षान्नमात्रेण च तुष्टिमन्तः। अशोकमन्तःकरणे चरन्तः, कोपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः॥”
महाप्रभु—हमारे प्रति आपका पूर्ण अनुग्रह है। आप हमको जो उपदेश करेंगे, उसका मैं पालन करूँगा।
महाप्रभु के इस वाक्य से सार्वभौम विशेष आनन्दित होकर महाप्रभु को वेदान्त श्रवण कराने लगे। ‘वेदान्त’ बोलने से लोग पहले वादरायण-सूत्र के शंकरप्रणीत शारीरिक-भाष्य को ही जानते थे। सूत्रकर्ता वादरायण ने स्वयं अपने सूत्रों की जो भाष्य रचना की है, अथवा सात्वत आचार्यों ने जिन भाष्यों का प्रणयन किया हैं उस विषय में ज्यादातर लोग अज्ञ और उदासीन थे। श्रीगौरसुन्दर उस समय सर्वश्रेष्ठ वैदान्तिक वासुदेव सार्वभौम और शंकर वेदान्त के पीठस्थान वाराणसी के संन्यासियों के गुरु प्रकाशानन्द सरस्वती के निकट वेदान्त के प्रकृत भाष्य एवं वेदान्त-जिज्ञासा के चरम फलस्वरूप श्रीभागवत व वैष्णव धर्म का तात्पर्य प्रकाश

कर जगत में उस शिक्षा का विस्तार करने के लिए ये सब अद्भुत लीलाओं का प्रकाश किया था। सार्वभौम भट्टाचार्य महाप्रभु को कृपागत सात दिन तक शंकर भाष्यानुयायी वेदान्त श्रवण कराने लगे। महाप्रभु भी अच्छा बुरा कुछ भी न बताकर मौन होकर से श्रवण मात्र करने लगे। आठवें दिन सार्वभौम ने महाप्रभु से पूछा—
सार्वभौम—कृष्णचैतन्य! आप सात दिन तक वेदान्त श्रवण करते रहे हैं किन्तु आपके मुख से अच्छा-बुरा कोई मतामत अभी तक नहीं आया। आप बिल्कुल मौनावस्था का अवलम्बन कर बैठे हुए हैं। आप समझ रहे हैं या नहीं समझ रहे हैं मैं कुछ भी समझ नहीं पा रहा हूँ। महाप्रभु—भट्टाचार्य! मैं अति मूर्ख हूँ। आपने आज्ञा की है, वही आपका आदेश शिरोधार्य कर श्रवण कर रह हूँ| संन्यासी का धर्म पालन करने के लिए श्रवण मात्र कर रहा हूँ। किन्तु आपने जो धर्म स्थापित किया है, उससे कुछ भी समझ में नहीं आ रहा है।

सार्वभौम—अच्छा, आप यदि नहीं समझे, तब
तो समझने के लिए जिज्ञासा करना उचित है; जिज्ञासा के बिना कभी भी तत्वज्ञान प्राप्त नहीं होता, किन्तु आप श्रवण करते हुए मौन रहे हैं। आपके हृदय में क्या है उसे बिल्कुल भी समझ नहीं पाया हूँ।
महाप्रभु—व्यास सूत्रों का अर्थ स्पष्ट समझा जाता है, किन्तु आपकी व्याख्या सुनकर मन बहुत बेचैन है। सूत्र संज्ञा शास्त्र में इस प्रकार व्यक्त हुआ है,— “अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद् विश्वतोमुखम्।

अस्तोभमनवयं च ‘सूत्र’ सूत्रविदो विदुः॥”
व्यास सूत्र में सूत्र का ये सब लक्षण देखने पर विदित होता है। सूत्रबोध व्याख्यान सापेक्ष है। व्याख्यान में पाँच लक्षण विशिष्ट हैं।
“पदच्छेदः पदार्थोक्तिः विग्रहो वाक्य-योजना।
आक्षेपस्य समाधानं व्याखानं पंचलक्षणम्॥”
(१) पदच्छेद अर्थात व्याख्यातव्य— वाक्यों में जो समस्त वाक्य सम्मिलित रूप से है; उनको पृथक् कर निर्देश करना; (२) पदार्थोक्ति—जिस पद का जैसा अर्थ, उसे प्रकाशित करना; (३) विग्रह—उसी वाक्य में कोई समास रहने पर उसकी वाक्य रचना करना; (४) वाक्य योजना-अन्वय रूप से वाक्य रचना करना एवं (५) आक्षेप समाधान—किसी आपत्ति, आशंका व दोषों की सम्भावना रहने पर उसका समाधान, मीमांसा व निरसन करना—व्याख्यान के ये ही पाँच लक्षण हैं।
यही व्याख्यान पुनः वृत्ति से संक्षेप में एवं भाष्य में सविस्तार रूप से आलोचित होता है। भाष्य के लक्षण शास्त्र में इस प्रकार उक्त हुए हैं—
“सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र पदैः सूत्रानुसारिभिः।
स्वपदानि च वयन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः॥”
जिस ग्रंथ में सूत्रानुसार पदसमूह द्वारा सूत्र का अर्थ वर्णित है एवं स्वप्रयुक्त-पद समूह भी व्याख्यात हुआ है, वही “भाष्य” नाम से जाना जाता है।

सूत्र का भाष्य सूत्र का अर्थ प्रकाश करता है किन्तु आपने जो भाष्य का है, वह सूत्र का अर्थ प्रकाश न कर वास्तविक अर्थ आच्छादित करता है। आपके द्वारा कथित भाष्य सूत्र के मुख्य अर्थ की व्याख्या के अर्थ को आच्छादित करता है।
सार्वभौम—आप इतने समय तक चुप रहे थे अब देखता हूँ पण्डित की तरह बातें बोल रहे हो। ‘मुख्यार्थ’ से आप किसको निर्देश करते हैं। महाप्रभु—उपनिषद-‘वाक्य समूहों’ के जो मुख्य अर्थ हैं उसे ही वेदव्यास स्वकृत सूत्र में उद्देश्य करते हैं। उसे छोड़कर आप गौणार्थ की कल्पना कर रहे हैं। अभिधावृत्ति आश्रय करने पर मुख्य अर्थ होता है। किन्तु आपने अभिधावृत्ति परित्याग कर लक्षण-द्वारा कल्पित अर्थ किया है।
सार्वभौम—आप किसको मुख्य-प्रमाण के रूप में स्वीकार करते हैं? महाप्रभु—भट्टाचार्य! हमारी व आपकी रुचि के अनुसार किसी वस्तु की स्वीकृति व अस्वीकृति ही “प्रमाण” रूप से गणित होगी, ऐसा नहीं है। कारण, मानवगण स्वभावत: भ्रमादि-दोष के वशीभूत है; इसलिए अचिन्त्य अलौकिक वस्तु स्पर्श के अयोग्य है। उनके लिए प्रत्यक्षादि प्रमाण निरन्तर दोषयुक्त है। अतएव प्रत्यक्ष-अनुमान आदि स्वतन्त्र रूप से प्रमाणों में उनकी गणना नहीं होती। अनादि- सिद्ध-पुरुष-परम्परा प्राप्त सार्वलौकिक और अलौकिक-ज्ञान के निदान स्वरूप अप्राकृत वचन-लक्षण वेद-वाक्य ही सर्वातीत, सर्वाश्रय, सर्वाचिन्त्य, आश्चर्य-स्वभाव-सम्पन्न वस्तु का विज्ञान लाभेच्छुक पुरुष के लिए एकमात्र प्रमाण है। श्रुति वाक्यों का जो

मुख्य अर्थ है वहीं प्रमाण है। देखो, पशु आदि की अस्थि और मल-नितान्त अपवित्र है, किन्तु ‘शंख’ और ‘गोबर’ की उसमें गणना होने पर भी श्रुति वाक्यों में अको मा पवित्र बताया गया है। वैदिक वाक्यों के लक्षणा करने पर उसके अनुमान के अधीन करने पर उसकी स्वतः प्रामाणिकता नश्वर हो जाती है। सार्वभौम—अच्छा, ‘अभिधा’ और ‘लक्षणा’ के क्या लक्षण बताये गये हैं?
महाप्रभु—शब्द ‘कदम्ब’ श्रवण मात्र से
ही जो अर्थ प्रतीत होता है, वह शब्द की अभिधावृत्ति से रहता है। जैसे “कृष्णचन्द्र भगवान स्वयम्।”-यह वाक्य सुनने के साथ-साथ अनुभव होता है कि कृष्णचन्द्र ही स्वयं भगवान हैं। दूसरी जगह “गंगायां घोषः” अर्थात गंगा में घोष पल्ली—इस शब्द का अभिधा क्रम में प्राप्त अर्थ नहीं होता, कारण जल प्रवाह में घोष पल्ली अवस्थित नहीं रह सकती बल्कि लक्षणा पल्ली द्वारा गंगा। सहज अर्थ को ‘अभिधा’ कहा जाता है। जिस स्थल पर लक्षणा का प्रयोजन है, वहाँ अभिधावृत्ति से कार्य नहीं होता है। सहज में स्वाभाविक अर्थ होता है— ऐसे स्थल में अभिधा कार्य करता है। छान्दोग्य में बताया गया है,—“ शवलाच्छामं प्रपद्ये,” अभिधावृत्ति द्वारा इन वेद वाक्यों को लेकर जब न्याय सिद्ध अर्थ प्राप्त हो रहा है, तब आचार्य शंकर के साथ ‘श्याम’ शब्द के “हार्द ब्रह्मत्व” का क्यों अनुमान करें? मुक्तपुरुष स्वभावतः श्रीश्यामसुन्दर की युगल उपासना करते रहते हैं, वहीं इस वेद वाक्य का सिद्ध अर्थ है।

सार्वभौम—लक्षणा बहुत प्रकार की है; इसलिए लक्षणा मात्र ही अनीन्द्रियतत्व में कार्यकारी नहीं है; इसे कहा नहीं जा सकता। महाप्रभु—जहत्स्वार्था,
अजहत्स्वार्था, निरूढ़ा, आधुनिका प्रवृत्ति जितने प्रकार के लक्षणा ही क्यों ना रहें; सभी लक्षणा ही अधोक्षज वस्तु-निर्णय में कोई कार्य नहीं करते, बल्कि वह उसमें नियुक्त होकर भ्रम पैदा कर देता है।
सार्वभौम—देखो आप विपरीत वाक्य बता रहे जगत्गुरु भगवान शंकराचार्य ने बताया है, अनिर्देश्य तत्व में अभिधावृत्ति कार्य नहीं करती, अतएव वहीं लक्षणा द्वारा ही वेदार्थ का निर्णय करना उचित है। महाप्रभु—श्रीगौड़ पूर्णानन्द ने इसमें आपत्ति उठाई थी। शब्द शक्ति के विचार से यही निर्णीत है कि जिस स्थान पर अभिधा अंगीकृत नहीं होती, वहाँ लक्षणा का स्थान नहीं है। जहाँ ग्राम नहीं है वहाँ सीमा का तर्क क्यों? जनक व्यतीत पुत्रोत्पत्ति किस प्रकार होती है? वितर्क यही है कि, अनिर्वचनीय वस्तु से जब अभिधा द्वारा शब्द कार्य नहीं करता, तब अभिधा से स्वरूप लक्षण क्या करेगा? अतएव लक्षणा वृत्ति त्यागकर आप्त वाक्य की अभिधा शक्ति अवलम्बन कर अप्राकृत वस्तु का अन्वेषण करना ही पण्डित व्यक्ति का कार्य है। व्यास सूत्र का अर्थादि स्वतः प्रकाशित सूर्य के अप्रतिरुद्ध निर्मल किरण की तरह देदीप्यमान; किन्तु स्वकपोल-कल्पित भाष्य-मेघ खण्ड जैसा है। वह लोगों की आँखों के सामने पर्दा डाल देता है।

सार्वभौम—आपने ही पहले बताया था, उपनिषद का प्रतिपाद्य अर्थ ही सूत्रकार से वेदान्त में निबद्ध हुआ है; आचार्य शंकर ने उसी श्रुति का अवलम्बन करके ही वेदान्त की व्याख्या की है। आपने भाष्य की निन्दा करके क्या परोक्षरूप से श्रुति की ही निन्दा कर रहे हैं न?
महाप्रभु—वेद एवं उसके अनुगत पुराण समूह में ब्रह्म का ही निरूपण किया है; “वृहत्वात् वृंहनत्वाच्च ब्रह्म“। ब्रह्म अपने वृहत्व-धर्मवश परमेश्वर के लक्षण से लक्षित होते हैं। वृहद् या परिपूर्ण वस्तु में जीव स्व कपोल-कल्पना के वश में होकर किसी शक्ति का अभाव लक्ष्य करने पर परमेश्वर की परिपूर्णता या वृहत्व को अस्वीकार किया जाता है। ईश्वर को उसकी सर्व ऐश्वर्य की परिपूर्णता के साथ दर्शन न करने पर ईश्वर की सर्व शक्तिमत्ता में व्याघात होता है और उसको सर्व ऐश्वर्य-परिपूर्णता के साथ दर्शन करने पर वही वृहद-ब्रह्म की वस्तु ही स्वयं भगवान रूप से प्रकाशित होती है। अतएव ‘ब्रह्म’ और ‘ईश्वर’—ये दोनों भगवत तत्व के अन्तर्गत विषय विशेष है। षड्-ऐश्वर्य पूर्ण भगवान सर्वदा परिपूर्ण श्रीसंयुक्त हैं, इसलिए वे नित्य सविशेष हैं, उनको ‘निराकार’ कहकर व्याख्या करने पर वेदार्थ विकृत हो जाता है। उसके ऊपर सब ऐश्वर्य पूर्ण भगवान् का निराकारत्व अर्थात सत्व का अभाव युक्ति- विरोधी है। विचित्र शक्ति कृपा से भगवान एक ही समय में सर्वव्यापी
और साकार रह सकते हैं। यह केवल ब्रह्मेतर पदार्थ के पक्ष में दुःसाध्य है।

“आनन्दो द्विविधः प्रोक्तो मूर्तामूर्तप्रभेदतः।
अमूर्तस्याश्रयो मूर्तो मूर्तानन्देऽच्युतो मतः॥
अमूर्तः परमात्मा च ज्ञानरूपंच निर्गुणः।
स्व-स्वरूपश्च कुटस्थो ब्रह्म चेति सतां मतम्॥
अमूर्तमूर्तयोर्भेदो नास्ति तत्वविचारतः।
भेदस्त कल्पितो वेदैर्मणिवत्तेजसोरिव॥”
सार्वभौम—आपका सिद्धान्त स्वीकार करने
पर श्रुति वाक्य के साथ असंगति होती है। श्रुति कहती है, ब्रह्म—“अपाणिवाद” ‘अचक्षु’ ‘अकर्ण’, और अपने जो प्रमाण उद्धृत किये हैं, वह पुराण और स्मृति शास्त्रादि का प्रमाण है। हम श्रुति के मुख्य प्रमाणों को अस्वीकार कर पुराणादि के गौण-प्रमाण-वाक्य-समूह स्वीकार नहीं कर सकते हैं। उद्धृत भी हुआ है, श्रुति और स्मृति के मध्य विरोध उपस्थित होने पर श्रुति को ही गरीयसी मानकर स्वीकार करना होगा।
महाप्रभु—जो सभी श्रुति ब्रह्म को निर्विशेष बताकर कीर्तन करती हैं; वे केवल ‘प्राकृत-विशेष’ का निषेध करके “अप्राकृत विशेष” की स्थापना करती हैं—
“याया श्रुतिजल्पति निर्विशषं सा साभिधत्ते सविशेषामेव।
विचारयोगे सति हन्त तासा प्रायो वलीयः सविशेषामेव॥”
जो-जो श्रुति तत्त्व वस्तु को पहले ‘निर्विशेष’ की कल्पना करती हैं, वे सभी

श्रुति या अन्त में ‘सविशेष‘-तत्त्व को ही प्रतिपादित करती हैं। ‘निर्विशेष’ और ‘सविशेष’-भगवान के ये दोनों गुण ही नित्य हैं। यह विचार करने पर सविशेष तत्व ही प्रबल होता है, क्यों नहीं, जगत में सविशेष तत्व ही अनुभूत होता है; निर्विशेष तत्व अनुभूत नहीं होता।
“यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते”—(तैःभृः १) इत्यादि श्रुति वाक्यों में यही पाया जाता है कि यह चराचर विश्व ब्रह्म से जन्म, ब्रह्म द्वारा जीवित रहता है एवं उसी ब्रह्म में पुन: लीन हो जाता है। इन सब वेद वाक्यों द्वारा परब्रह्म का ‘अपादान’, ‘करण’ और ‘अधिकरण’ कारकत्वरूप से तीन प्रकार का लक्षण जाना जाता है। इन्हीं तीन प्रकार के नित्य लक्षणों द्वारा भगवान नित्य सविशेष रूप से प्रतीयमान होते हैं। “वह स्याम्” (तैः उः व्र:—६ अः) इत्यादि श्रुति मत से भगवान जब अनेक रूप धारण करने की इच्छा करते हैं, तब “स एक्षत” (एतः उ:—१/१) इसी वाक्यमत के अनुसार प्राकृत शक्ति से वे दृष्टिपात हुये। उस समय प्राकृत मन और नयनों की सृष्टि नहीं हूई। अतएव भगवान ने जिस मन के द्वारा चिन्ता, की जिन नयनों के द्वारा प्रकृति के उपर दृष्टिपात किया वह मन और नयन प्राकृत सृष्टि के पूर्व ही विराजमान थे। इसलिए परम ब्रह्म का जो स्वरूपगत अप्राकृत मन और नयन थे, वह सर्ववेद-सम्मत है।
सार्वभौम—उपनिषद् वाक्यों में सर्वत्र ‘ब्रह्म’ शब्द ही पाया जाता है। महाप्रभु—वही ‘ब्रह्म’ शब्द से विभूषित
या विष्णु परतत्व श्रीकृष्ण ही लक्षित हैं।

श्रीकृष्ण ही पूर्णतम स्वरूप स्वयं भगवान हैं।
सार्वभौम—वेद में वह स्पष्ट रूप से उल्लेखित क्यों नहीं है?
महाप्रभु—वेदों में उसका उल्लेख है लेकिन वेद वाक्यों का अर्थसमूह अत्यन्त निगूढ़ है। महर्षियों ने वेद वाक्यों के तात्पर्य का जगत में समझने के लिए ही पुराण वाक्य में वेद-तात्पर्य की निर्णय किया है। वेदार्थ-पूरणकारी और प्राग् बन्धयुग में प्रकाशित होने के कारण ‘पुराण’ अर्थात ‘प्राचीन’ नाम है। शास्त्र में बताया गया है “इतिहास पुराणाभ्याम् वेदम् समूपवृंहयेत्” अर्थात इतिहास और पुराणों के द्वारा वेद को पूरण करेंगे। जो वेद में नहीं है उसके द्वारा वेद का पूरण नहीं हो सकता है। जैसे—स्वर्ण वलय का कोई अंश पूरा करने के लिए कुछ प्रयोजनीय है, सीसा के द्वारा कभी भी वह पूरा नहीं हो सकता है। पुराण और पँचरात्रादि सात्वत-तन्त्रसमूह वेद का निगूढ़ अर्थ प्रकाशित और विस्तारित करते हैं? कहा जाता है कि वेद से भी पुराणों का अधिक गौरव शास्त्र में उक्त हुआ है।
यथा नारदीय,
“वेदार्थादधिकं मन्ये पुराणार्थम् वरानने।
वेदाः प्रतिष्ठिताः सर्वे पुराणे नात्र संशयः॥
पुराणमन्यथा कृत्वा तिर्यग्योनिमवाप्नुयात्। सूदान्तोऽपिसुशान्तोऽपि न गतिं क्वचिदाप्नुयात्॥”

हे वरानने! वेदार्थ की अपेक्षा पुराणार्थ को अधिक मानता हूँ चूँकि निखिल वेद-तात्पर्य पुराणों में ही प्रतिष्ठित है, — इस विषय में कोई सन्देह नहीं है। सुदान्त ही हों, और सुशान्त ही क्यों न हो, जो व्यक्ति पुराण को वेद से अन्य प्रकार से मानते हैं; वे तिर्यग् योनि प्राप्त करते हैं, उनको उत्तम गति कभी भी प्राप्त नहीं होती है। सार्वभौम—आप पुराणों का महात्म्य बता रहे हैं, किन्तु पुराण में भी ब्रह्म को निर्विशेष-चिन्मात्रतत्व को ही स्वीकार किया है।
महाप्रभु—अद्वय ज्ञान की शुष्क और नि:शक्तिक प्रतीति ही ब्रह्म है। जड़मध्य में प्रविष्ट शुष्क आत्ममय प्रतीति ही परमात्मा है। अद्वय ज्ञान के पूर्व सविशेष की प्रतीति ही भगवान है। ऐश्वर्य-प्रधान भगवत् प्रकाश का नाम श्रीपति नारायण और माधुर्य प्रधान भगवत प्रकाश का नाम-राधानाथ कृष्ण है। श्रीगीता में भगवान कृष्णचन्द्र ने अर्जुन को स्वयं कहा है—
“ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽममृतस्याव्यस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥”
सविशेष तत्व स्वरूप में ही ब्रह्म की प्रतिष्ठा व आश्रय है, अमृतत्व, अव्ययत्व, नित्यत्व, नित्यधर्म-रूप प्रेम एवं ऐकान्तिक सुख-रूप-व्रजरस,—यह समुदाय ही निर्गुण सविशेष तत्वरूप कृष्ण-स्वरूप को ही आश्रय करके विराजमान है। स्वामिचरण ने भी यही अर्थ किया, है,—“ब्रह्मणोऽहम् प्रतिष्ठा घनीभूतम् ब्रह्मेवाहं यथा घनीभूत प्रकाश एव

सूर्यमण्डलं तद्वदित्यर्थः।” ‘मैं ब्रह्म की प्रतिष्ठा’ हूँ—इसी अर्थ में घनीभूत ब्रह्म ही मैं हूँ। जिस प्रकार घनीभूत-प्रकाश ही सूर्यमण्डल है, उसी प्रकार ‘प्रतिष्ठा‘-शब्द से पर्याप्ति भी हो सकता है। कोषकार कहते हैं,—‘पर्याप्तिः परिपूर्णता’। “पराकृतमनद्वन्दम् परं ब्रह्म नराकृति।
सौन्दर्यसारसर्वस्वं वन्दे नन्दात्मजम् महः॥”
श्रीमद्भागवत् में श्रीकृष्ण का स्तव करते हुए ब्रह्मा कहते हैं—
“अहो भाग्यमहोभाग्यं नन्दगोप ब्रजौकसाम्।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्ण ब्रह्म सनातनम्॥”
“अहो! नन्दराज-प्रमुख पञ्च रसाश्रित ब्रजवासियों के महासौभाग्य पर बलिहारी जाता हूँ परमानन्द स्वरूप पूर्ण ब्रह्म सनातन उनके मित्र रूप से आविर्भूत हुए हैं। सार्वभौम—‘अपाणि-पाद’, श्रुति जब ब्रह्म को ‘निराकार’ निर्विशेष बता रही हैं। तब मानना होगा कि, सगुण ब्रह्म उसी निर्गुण ब्रह्म का गौण प्रतीतिमात्र है। अनादि, अनन्त, निराकार, निर्विकार, निरंजन, अद्वैत, अमेय ब्रह्म ही माया मनुष्य की तरह नन्द यशोदा के पुत्र व गोपगणों के मित्र होकर रहते हैं।
महाप्रभु—आप श्रुति के विरुद्ध बात कह रहे हैं। ‘असपाणिपाद’ श्रुति मन्त्र में जड़- विशेष निरसन पूर्वक अप्राकृत सच्चिदानन्द विग्रह ही उद्दिष्ट हुआ है। आदौ ब्रह्म का “प्राकृत-हस्त-पद नहीं हैं‘—ऐसा कहकर बाद

में “शीघ्र चलते हैं, एवं सब वस्तुओं को ग्रहण करते हैं”—इसी वाक्य द्वारा अप्राकृत हस्त-पद हैं, ऐसा कहकर ब्रह्म का नित्य सविशेषत्व स्थापन किया है। इसी श्रुति की मुख्य वृत्ति में से सविशेषत्व और गौण वृत्ति से निर्विशेषत्व है। आप श्रुति का मुख्यार्थ छोड़कर लक्षणावृत्ति से अन्याय रूप में ब्रह्म का सविशेषत्व निषेधक निर्विशेषत्व को स्थापन कर रहे है; मायावादीगण ब्रह्म के नित्य सविशेष रूप में मायावाद को लेकर ब्रह्म को ‘नित्य निराकार’ रूप से स्थापन करते हैं, परन्तु श्रुति के सिद्धान्त मतानुसार वही ब्रह्म-षड़ैश्वर्यपूर्ण आनन्द-विग्रह-विशिष्ट भगवतस्वरूप से नित्य विराजमान हैं। मायावादी गण ब्रह्म को निःशक्तिक बताकर निर्देश करते हैं किन्तु श्रुति कहती हैं। “न तस्य कार्य करणञ्च विद्यते
न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रुयते स्वाभाविकी ज्ञान-बलक्रिया च॥”
उन कृष्ण की प्राकृत इन्द्रिय के द्वारा किसी कार्य का प्रसंग नहीं हैं, क्योंकि इनका प्राकृत शरीर व प्राकृत इन्द्रिय नहीं है। इनका श्री विग्रह-परिपूर्ण चित्स्वरूप है, अतएव जड़देह जिस प्रकार सौन्दर्य परिमिति के साथ एक ही समय सर्वत्र नहीं रह सकता, ऐसा नहीं है। श्रीकृष्ण विग्रह सौन्दर्य परिमिति के साथ अपरिमेय रूप से सर्वदा-सर्वत्र रहने पर भी स्वीय अप्राकृत वृन्दावन में नित्यलीला विशिष्ट है। इस प्रकार होने पर भी वे परात्पर वस्तु हैं। अन्य कोई स्वरूप उनके समान व अधिक नहीं हो सकता है, चूंकि वे अविचिन्त्य-शक्ति

के आधार हैं। उनकी अविचिन्त्यता यही है कि ,
परिमित -जीव बुद्धि से उसका समाधान नहीं
होता। उसी अचिन्त्य शक्ति का नाम -'परा शक्ति '
है। एक होकर भी स्वाभाविकी शक्ति -ज्ञान
(सम्वित्), बल (सन्धिनी) और क्रिया (ह्लादिनी)
—भेद से विविध प्रकार की है। यही परा शक्ति
विचित्रानन्द -सम्वर्धिनी है ; उसी शक्ति का
अनन्त प्रभाव रहने पर भी जीव के निकट तीन प्रभावों
का परिचय मात्र है। उसी तीन प्रकार के प्रभाव
नाम —चित्शक्ति , जीवशक्ति और मायाशक्ति है।
विष्णु पुराण में कहते हैं —

विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथापरा।
अविद्या कर्मसंज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते॥
या या क्षेत्रज्ञशक्तिः सा वेष्ठिता नृप सर्वगा।
संसारतापानखिलानवाप्नोत्यत्र सन्ततान्॥
तया तिरोहितत्वाच्च शक्तिः क्षेत्रज्ञसंज्ञिता।
सर्व भुतेषु भूपाल भारतम्येन वर्तते॥
ह्लादिनी सन्धिनी सम्वित् त्वयेका सर्वसंश्रये।
ह्लादतापकरी मिश्रा त्वयि नो गुण -वर्ज्जिते॥

विष्णु शक्ति तीन प्रकार की है —परा , क्षेत्रज्ञा और अविद्या -संगा -विशिष्टा। विष्णु की परा शाक्ति ही 'चित शक्ति ', क्षेत्रज्ञा शक्ति ही जीव शक्ति —जो माया -रूप 'अविद्या ' से 'अपरा ' अर्थात भिन्न रूप से व्यक्त हुई है ; कर्म संज्ञा रूपा अविद्या शक्ति का नाम 'माया ' है। क्षेत्रज्ञ शक्ति ही

जीव शक्ति है ; वही जीव शक्ति ‘सर्वज्ञ’ होकर भी माया-वृत्ति-रूपा अविद्या द्वारा आकृत होकर संसार गत अखिल ताप का नित्य भोग करते हैं। पुनः वही ‘क्षेत्रज्ञा’ नाम की शक्ति अविद्या कुन्ठावृत होकर सर्वभूतों में तारतम्य के साथ विराजित रहती है। तात्पर्य यही है कि -भगवान की चित्शक्ति -सर्वश्रेष्ठ है, जीवशक्ति -मध्यमा एवं अविद्या -कर्म-संज्ञिता मायाशक्ति अधम है। जीवशक्ति माया द्वारा होकर अर्थात् चित्शक्ति -वृत्ति से दूरीभूत होकर संसार-ताप प्राप्त करती है। इसी प्रकार के दूरीभूत अवस्थान -क्रम में आविष्कृत कर्म-चक्र में प्रवेश कर ऊँच-नीच अवस्था को प्राप्त होती है। हे भगवान, सर्वाश्रय, निर्गुण जो आप हैं आपमें ‘ह्लादिनी,’ ‘सन्धिनी’ और ‘सम्वित्’ तीनों विषय ही चिन्मय हैं। योग्य चित्कण-जीव मायाविष्ट होकर, माया का त्रिगुण आश्रय लेकर जो अवस्था प्राप्त की है। उससे शक्ति ‘ह्लादकरी’, ‘तापकरी’ और ‘मिश्रा’—ये तीन प्रकार के भाव प्राप्त हैं ; किन्तु सर्वगुणातीत जो आप हैं, आपमें वही शक्ति निर्मला व निर्गुण स्वरूप में एकीभूत है। वेदवाक्य में अनेक स्थलों पर इसी परा शक्ति का तीन प्रकार के प्रभाव का वर्णन है ; यथा —चित् शक्ति के विषय में श्वेताश्वर में —

“ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्।
यस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य
इत्तद्विदुस्त इमे समासते॥”

ऋग्वेद में जो अक्षर परव्योम की बात है जिसमें समस्त देवता अवस्थान करते हैं, जो उस तत्व को नहीं जानते, वे ऋक्वेद द्वारा क्या

करेंगे? जो उस सत्व को जानते हैं वे ही कृतार्थ होते हैं।
“ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन
देवात्मशक्तिं स्व गुणैर्निर्गुणम्।
यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः॥”
एक शक्तिमान वेद और जीव के साथ स्वभावादि सब कारणों को नियमित कर प्रकाशमान हैं। ब्रह्मज्ञ व्यक्तिगण उसी स्वरूपभूता और स्वयं के प्रभाव द्वारा संवृता शक्ति के ध्यान योग परायण होकर निखिल कारणरूप में दर्शन करते हैं।
जीवशक्ति के विषय में श्वेताश्वतर में— “अजामेकां लोहित-शुक्ल-कृष्णां
वव्ही: प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनूशेते
जहात्येनाम् भुक्त-भोगामजोऽन्यः॥”
सत्व-रज और तमोगुणात्मिका अनेक प्रजा की जननी स्वरूपा-समानरूपा, एक अजानाम्नी प्रकृति को अन्य एक अज पुरुष (जीव) सेवा करते- करते भजन करते हैं। दूसरा अज पुरुष (परमात्मा) भुक्त-भोगा इस प्रकृति का त्याग कर देते हैं।
मायाशक्ति के विषय में श्वेताश्वतर में “छन्दांसि यज्ञाः क्रतवो व्रतानि
भुतं भव्यं यच्च वेदा वदन्ति।
सृजते विश्वमेतत्
तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरूद्धः॥”
वेद, अग्निष्टामादि यज्ञ, अश्वमेधादि क्रतु, चान्द्रायणादि कृत, भूत और भविष्यत्, — जो कुछ वेद कीर्तन करते हैं, वह सभी मायाधीश पुरुष की सृष्टि करते हैं। उसी विश्व में

अन्य जीव माया-द्वारा आबद्ध होकर विचरण करते हैं।
सार्वभौम—ब्रह्म की शक्ति है, ऐसा स्वीकार करने पर अन्य वेद प्रमाणों में उसको ‘निर्विशेष’ बताया गया है, उसकी संगति किस प्रकार होती है?
महाप्रभु—निर्विशेष गुण भी उसी परा शक्ति को ही प्रकाश करती है, अतएव निर्गुण निर्विशेष ब्रह्म में भी शक्ति का परिचय देखा जाता है। लुप्त शक्ति ब्रह्म एक भान मात्र है।
मायावाद का यह कल्पित तत्व है। निर्विशेष ब्रह्म वस्तुत: मायावाद के अतीत है। सविशेष और निर्विशेष ब्रह्म वेद में इस प्रकार वर्णित हुआ है—
“य एकोऽवर्णो वहुधा शक्तियोगाद् वर्णाननेकान् निहितार्थो दधाति।”

“य एको जालवानीशत ईशनीभिः
साल्लौकानीशत ईशनीभिः॥”
परमेश्वर अद्वयज्ञान तत्व स्वशक्ति मात्र सहाय है। इस जगत में जो कुछ है, सभी कुछ परमेश्वर की शक्ति का प्रकाश है, वे अपनी- शक्तिमात्र की समयता से सब को प्रकाशित करते हैं। वे स्वयं ब्राह्मणादि वर्ण या प्राकृत-रूप-रहित होकर भी अपनी नाना प्रकारकी शक्ति द्वारा ब्राह्मण-आदि वर्ण और शुक्लादिरूप उत्पादित करते हैं। जो अद्वितीय मायाधीश हैं, वे स्वशक्ति के द्वारा सब लोकों को नियमित करते हैं।
परम तत्व की शक्ति कभी भी लुप्त नहीं होती है; वह सर्वदा स्वप्रकाश है। उस स्वप्रकाश तत्व की शक्ति का परिचय तीन

प्रकार से नित्यरूप में इसी मन्त्र में लक्षित है —

"स विश्वकृविश्वविदात्मयोनिर्जः
कालकालो गुणी सर्व विद्यः।
प्रधान -क्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः
संसार -मोक्षस्थितिबन्धहेतुः॥"

वही शक्तिमान तत्व -विश्व का कर्ता, विश्ववेत्ता, आत्मयोनि, ज्ञानी, कालकर्ता, गुणी, सर्ववेत्ता, प्रधान और क्षेत्रज्ञपति, गुणेश एवं संसार का मोक्ष, स्थिति और बन्धन का कारण है।

सार्वभौम —ये सभी श्रुति मन्त्र ब्रह्म की केवल ईश्वरावस्था का वर्णन करते हैं, वस्तुतः निःशक्तिक ब्रह्मावस्था ही चरमावस्था है।

महाप्रभु —ब्रह्मावस्था और ईश्वरावस्था -भेद में लुप्तशक्ति और व्यक्त शक्ति का परिचय भेद मायावाद के अन्तर्गत मतवाद मात्र है; वस्तुतः परमब्रह्म सर्वदा सर्वशक्तिमान है। सच्चिदानन्दमयत्वयी ही उसका स् की एक चित्शक्ति ही 'सत्,' 'चित्' और 'आनन्द'— इन तीन अंश में तीन प्रकार से प्रकाश पाती है। आनन्दांश में ह्लादिनी, सदंश में 'सन्धिनी' एवं चिद् अंश में 'सम्वित्' है। वह 'सम्विद्' ही कृष्ण -सम्बन्धी ज्ञान है। ईश्वर की स्वरूपशक्ति तीन स्वरूप में प्रकाशित होती है —'' अर्थात 'चित्शक्ति स्वयं है, 'तटस्था' अर्थात् जीवशक्ति, बहिरंगा अर्थात मायाशक्ति है। उपरोक्त तीन शक्ति -प्रभाव के द्वार, जैवजगत और जड़जगत का प्रादुर्भाव हुआ है। प्रत्येक प्रभाव में सन्धिनी, सम्वित् और ह्लादिनी -रूपी तीन वृत्ति लक्षित होती हैं। चित् शक्ति में जो सन्धिनी वृत्ति है, उसके

कार्यरूप में चिद्धाम है, चिदवयव, चिदुपकरण इत्यादि सब प्रकार का चिद् वैभव उदित हुआ है। कृष्ण रूप, कृष्णनाम, कृष्णगुण और कृष्णलीला, समुदाय ही सन्धिनी का कार्य है। चित्शक्ति की जो सम्विद्वृत्ति है उसके कार्यस्वरूप समस्त भावों का उदय हुआ है। चित्शक्ति की जो ह्लादिनी वृत्ति है, उसके कार्यस्वरूप में सम्पूर्ण प्रेमानन्द का अनुशीलन हुआ है। जीवशक्ति से जो सन्धिनी है, उसके कार्यस्वरूप सम्पूर्ण प्रेमानन्द-अनुशीलन हुआ है। जीवशक्ति में जो सन्धिनी है, उसके कार्यस्वरूप जीव की चिन्मय सत्ता, नाम और स्थान समुदित हुआ है। उससे जो सम्विद् शक्ति है उसके कार्यस्वरूप ब्रह्म-ज्ञानादि का उदय होता है। उसमें जो ह्लादिनी है, उसके कार्यस्वरूप ब्रह्मानन्द क्रिया प्राप्त होती है। अष्टांग योगगत समाधि सुख अथवा कैवल्यसुख भी उसका कार्य विशेष है। मायाशक्ति में जो सन्धिनी-वृत्ति है, उसका कार्यस्वरूप चौदह लोकमय सम्पूर्ण जड़ विश्व है, बद्ध जीव का जड़ और लिंग-शरीर, बद्ध जीवों की स्वर्गादि लोकों की गति और सम्पूर्ण जड़ेन्द्रियादि निर्मित हुई हैं। बद्ध जीव का जड़ीय नाम, जड़ीय रूप, जड़ीय गुण और जड़ीय कार्य समूह ही उससे उत्पन्न हैं। माया की जो सम्वित् वृत्ति है उसके द्वारा जड़ बद्ध जीव की चिन्ता, आशा, कल्पना और विचार समुदाय उदित हैं माया में जो सम्विद् वृत्ति है, उसके द्वारा जड़ बद्धजीव की चिन्ता, आशा, कल्पना और विचार उदित होते हैं, माया में जो ह्लादिनी-वृत्ति है, उसके द्वारा स्थूल जड़ानन्द और स्वर्गादिगत सूक्ष्म-जड़ानन्द उदित हुआ है। सन्धिनी, सम्वित् और ह्लादिनी

तीनों वृत्ति चित्शक्ति से निर्मल और निरुपाधिक रूप से पूर्णता के साथ नित्य क्रियावती है। जीवशक्ति में परमाणु-सदृश होकर अति सूक्ष्म रूप से प्रकाश पाता है। माया शक्ति से विकृत रूप में उन-२ वृत्तियों का आभास मात्र देखा जाता है। जीव के पक्ष में सम्पूर्ण माया-वृत्ति हेय- हैं। जीव शक्ति का अपनी वृत्ति समुदय हेय नहीं है, किन्तु अप्रचुर है। चित्शक्तिगत ह्लादिनी के संयोग के बिना जीव पूर्णानन्द प्राप्त नहीं कर पाता है। वह केवल कृष्ण-कृपा और कृष्णजनों की कृपा के बिना कभी भी सम्भव नहीं होता है। सार्वभौम—श्रुति में जब ब्रह्म को ‘निःशक्ति’ और ‘निर्विशेष’ बताया गया है, तब उसको पुनः एक ही समय ‘शक्तिमान’ और ‘सविशेष’ कहने से क्या द्विविध श्रुति वाक्यों की असंगति नहीं होगी? इसलिए हम लोग विचार करते हैं कि जिन श्रुति वाक्यों में ब्रह्म को निःशक्तिक व निर्विशेष बताया गया है, वही मुख्य श्रुति और जिसमें ब्रह्म को सविशेष और सशक्तिक बताया गया है; वह गौण श्रुति है। मुख्य और गौण में गौण ही प्रबल है। महाप्रभु—श्रुति परमाराध्या कोई भी श्रुति असम्मान का विषय नहीं है। एक को सम्मान प्रदान कर एक को उसकी अपेक्षा न्यून व लघु करने पर वस्तु विभिन्न श्रुति के मध्य भेद-बुद्धि और श्रुति वाक्यों का असम्मान किया जाता है। दो गायों के मध्य यदि परस्पर विवाद उपस्थित हो, तो ऐसा होनेपर सनातन धर्मावलम्बी उनमें से किसी एक गाय की हत्या कर और एक की रक्षा करने के लिए नहीं जायेगा। गऊ माता के प्रति श्रद्धाहीन म्लेच्छगण ही एक की हत्या कर दूसरी की रक्षा करते हैं। और

जिसकी गौ-माता के प्रति वास्तविक श्रद्धा है, वे दोनों गायों को ही सम्मान देकर सन्तुष्ट करते हैं। श्रुति के सम्बन्ध में भी ऐसा ही है। विद्वत प्रतीतिविशिष्ट पुरुषगण सविशेष निर्विशेष-भेद प्रतिपादक और अभेद प्रतिपादक-दोनों प्रकार की श्रुति को समान रूप से सन्तुष्ट करते हैं। सच्चिदानन्द स्वरूप श्रीकृष्ण की विरोध भञ्जिका-नाम्नी एक अचिन्त्यशक्ति है। उस शक्ति के बल से ही उनमें परस्पर-विरोधी सभी धर्म ही अविरोध युगपत नित्य विराजमान हैं। सरूपता और अरूपता, विभूता और श्रीविग्रह, निर्लेपता और भक्तकृपालुता, अजत्व और जन्मवत्ता सर्वाराध्यत्व और गोपत्व, सर्वज्ञता और नरभावता, सविशेषत्व आदि अनन्त विरोधी धर्म श्रीकृष्ण में अच्छी तरह से अपना-अपना कार्य करते हुए हादिनी की सेवा के अनुकूल में नियुक्त है। इस विषय में जो तर्क करते हैं वे नितान्त वंचित हैं। तर्क के आरम्भ से पहले ही यह विवेचना करना उचित है कि नर युक्ति सहज रूप से सीमा विशिष्ट है, अतएव असीम तत्व में उसका कोई परिचय ही सम्भव नहीं है। भाग्यवान व्यक्ति शुष्क तर्क का परित्याग कर आम्नाय वाक्यों में श्रद्धा रखते हैं। उसी श्रद्धा बीज से भक्तिलता अंकुरित होकर क्रमशः श्री कृष्ण के चरण में आरोहण करते हैं। श्रुतियों में पर-ब्रह्म के युगपत विरुद्ध-गुण-समूह सुनने आते हैं—
“अपाणिपादो जवनो ग्रहीता
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यम् न च तस्यास्ति वेत्ता मयाहुरग्य्रं पुरुषं महान्तम्॥”

भगवान का प्राकृत हाथ पैर नहीं हैं, तब
भी वे सब वस्तुओं को ग्रहण और सर्वत्र गमन कर सकते हैं। उनके प्राकृत नेत्र नहीं है, तब भी वे त्रिकाल दर्शन करते हैं एवं प्राकृत कर्ण शून्य होकर भी श्रवण करते हैं। वे सभी ज्ञेय विषयों से अवगत हैं, किन्तु उसको कोई समझ नहीं पाता है।
ब्रह्मज्ञ व्यक्तिगण उसको आदि और महापुरुष रूप से मानते हैं।
“तदेजति तन्नैजति तदुरे तद्वदन्तिके। तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य वाह्यतः॥”
वही आत्मतत्व सचल और अचल, दूर और निकट, विश्व के अन्तर में और बाहर में वर्तमान है। “स पर्यागाच्छुक्रम कायमव्रण
मस्नाविरम् शुद्धमपापविद्वम्।
कविर्मनीषि परिभुः स्वयम्भूर्याथातथ्यतो
ऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥”
परमात्मा सर्वव्यापी, शुद्ध, आकार, अक्षत, शिरा-रहित, उपाधि-शून्य, मायातीत, कवि, सर्वज्ञ, स्वयम्भु और परिभू हैं। उहने अपनी अचिन्त्य शक्ति के द्वारा नित्य सब पदार्थों को तद्-तद् विशेष द्वारा पृथक्प से विधान किया है। उसी अचिन्त्य शक्ति के परिचय में ‘तलवकार’ एक अनिषद् में बताया है; यथा, “तस्मै तृणम् निदधावेतद्दहेति तदूपप्रेयाय
सर्वजवेन तन्न शशाक दग्धुम्।
सतत एव निववृते नैतदशकम्
विज्ञातुम् यदेतद्यक्षमिति॥”

देवासुर संग्राम में असुरों को पराजित करके देवतागण गर्वित होने पर भगवान ने उनके गर्व को नष्ट करने के निमित्त आगमन कर अग्नि प्रमुख देवताओं के सम्मुख एक तृण स्थापन किया। अग्नि अस तृण के पुरी शक्ति का प्रयोग करने पर भी उसको दग्ध नहीं कर पाई। वे वहाँ से निवृत होकर देवताओं के सम्मुख आकर कहा—“इस वरेण्य पुरुष को मैं जान नहीं पाया।” विभुत्व में मूर्तत्व कथित है, यथा छान्दोग्य,— “श्यामाच्छवलं प्रपद्ये शवलाच्छ्यामं प्रपद्ये।”
सार्वभौम—आपकी व्याख्या में पाण्डित्य अवश्य है, किन्तु ब्रह्म और जीव में पारमार्थिक भेद वेदान्त शास्त्र में स्वीकृत नहीं हुआ है। हम लोग वेदान्त का सिद्धान्त विशेषतः आचार्य शंकर के मतानुसार महा-मनीषियों के वाक्यों को ही प्रमाण रूप में स्वीकार करेंगे। वेदान्त का मत ही हमारा मत है।
महाप्रभु—किन्तु आप वेदान्त के विरुद्ध स्वकपोल-कल्पित-भाष्य-मत को ही वेदान्त का मत कहकर उसे स्वीकृत कर विप्रलिप्सा-दोष को प्रश्रय दे रहे हैं। परब्रह्म मायाधीश हैं, और जीव माया के वश होने योग्य है। इस प्रकार जीव और ब्रह्म में आप किस प्रकार अभेद बतला रहे हैं। सार्वभौम—यह साहस परम बलीयसी श्रुति माता ने ही प्रदान किया है। आचार्य भगवान शंकर ने डंके की चोट के साथ यह घोषणा की है। महाप्रभु—श्रुति विरुद्ध शारीरक भाष्य विद्वत सभा में पढ़ने योग्य नहीं है; क्योंकि श्रुति-अर्थ-निर्णायक-सूत्रों के अर्थ के निराकरण में किसी की समर्थ्य नहीं है।

भगवदादिष्ट होकर ही आचार्य शंकर ने विमुख-विमोहकल्प में ब्रह्मसूत्रार्थ-विरोधी स्वकपोलकल्पित भाष्य का प्रचार किया था। वेदान्त में सर्वत्र मायाधीश ईश्वर और मायावश जीव में नित्य-भेद स्वीकार किया गया है।
सार्वभौम—आप सूत्र से प्रदर्शित करें। महाप्रभु—सूत्रकार
“स्थित्यदनाभ्याञ्च” इस सूत्र में कर्म फल के अशन एवं अनशनरूप युक्ति द्वारा जीव और ईश्वर का भेद वर्णन किया गया है। इसी प्रकार “शारीरचोभयेऽपि हि भेदे-नैनमधीयते” इस सूत्र में काण्व एवं माध्यन्दिन-शाखीय संवाद के अनुसार ब्रह्म से जीव
का भेद स्थापित हुआ है। “भेदस्य ण्यपदेशाच्च” “भेदव्यपदेशाच्चान्यः” इन दोनों सूत्रों में भी जीव और ईश्वर का भेद व्यपदिष्ट हुआ है। “विशेषण भेदव्यपदेशाभ्याञ्च नेतरौ” इस सूत्र में सर्वज्ञत्वादि विशेषण द्वारा एवं चतुर्मुखादि का भी सृष्टि कर्तृत्व निबन्धन, चतुर्मुख एवं प्रकृति से ब्रह्म का भेद स्वीकृत हुआ है। “अनुपपत्तेस्त न शारीरः” “नेतरोऽनुपपत्त्वेः” इन दोनों सूत्रों में भी जीव और ब्रह्म का भेद साधित हुआ है। “न प्रतीके न हि सः” इस सूत्र में सब प्रतीकों से स्पष्ट रूप में ब्रह्म का भेद बताया गया है। छान्दोग्योपनिषद में नाम से प्राण तक षोड़श देवता प्रतीक रूप में प्रसिद्ध हैं यदि तादृश देवताओं के साथ ब्रह्म का अभेद सिद्ध नहीं होता है, तो मनुष्यादि के साथ अभेद किस प्रकार संगत झे सकता है? “मुक्तोपसृप्य व्यपदेशात्” “सुषुप्तु-

यत्क्रान्तयो भेदेन ” इन दोनों सूत्रों में मुक्तजन प्राप्यत्व एवं सुषुप्ति और उत्क्रान्ति का नियामकत्व -रूप लक्षण -द्वारा जीवेश्वर का भेद स्पष्टीकृत होता है। “पृथगुत्पदेशात् ” “सम्पद्याविहाय स्वेन शब्दात् ” इस दोनों सूत्रों में भेदनिर्देश एवं स्वरूपतः ब्रह्म प्राप्ति रूप मोक्ष प्रतिपादन पूर्वक भेद व्यवस्थित हुआ है। “जगद्व्यापार वर्जयम् ” इस सूत्र में जीव का ब्रह्मतुल्य निरवधिक ऐश्वर्य का निषेध कर विष्णु का ही जगत कर्तव्य साधित हुआ है। अतएव जगतकर्ता विष्णु जीव से भिन्न होकर ही रहते हैं। वेदव्यास ने बहुत से सूत्रों में इस प्रकार के भेदों का उच्च -स्वर से कीर्तन किया

सार्वभौम —सूत्रकार की यह सब भेदोक्ति पारमार्थिक भेदनिष्ठ नहीं है , व्यवहारिक भेद कथन क मात्र है। “भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत् स्याल्लोकवत् ” इस सूत्र में अभेद होने के बावजूद व्यवहारिक भेद के विचार ही सूत्रकार ने बताया है। जैसे -उदकात्मक समुद्र से अभिन्न होकर भी उसके विकारीभूत फेन , वीचि , तरंग , बुद्बुद आदि का परस्पर आपस में अभेद और मिलन आदि सम्भव है , जैसे आकाश अविकृत रहने पर भी घटादि उपाधि के निमित्त उसका व्यवहारिक भेद दिखाई देता है , उसी प्रकार ब्रह्म -जीव सम्बन्ध में भी जानना होगा।

महाप्रभु —“ स्याल्लोकवत् ” इस सूत्र में परब्रह्म और जीव की एक्य प्राप्ति का विषय उल्लेखित होने से दोनों का अभेद सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार पूर्व पक्ष स्थापित करके गौष्ठ में गो -गण एकीभूत हो रहे हैं ’ इत्यादि लौकिक व्यवहार की तरह श्रुति में उसके जैसा एक भाव ही उल्लेख हुआ है , अभेद हेतु

नहीं है ऐसा सिद्धान्त किया गया है। सूत्रकार पूर्व-पक्ष में जीवेश्वर के ऐक्य का विषय स्थापित करके सिद्धान्त में इसका निषेध करते हैं, भाष्यकार तादृश ऐक्य सिद्धान्त पर कहकर मूलविरोधी दुष्टरूप से ही परिगणित होता है। “परेऽव्यये सर्वे एकीभवन्ति” इसी श्रुति में ऐक्य व्यवझर हेतु मुक्तगणों का ब्रह्म के साथ अभेद शंका वेदव्यास सभी गौ के दृष्टान्त द्वारा परिहार पूर्वक मुक्त-गणों के मध्य भी पारमार्थिक भेद ही स्वीकार करते हैं। सूत्रों का प्रतिपाद्य जो भेद सत्य है, वह “मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात्” इत्यादि सूत्र द्वारा ही स्थिरीकृत हुआ है। “सवं खल्विदं ब्रह्म” इत्यादि ऐक्य वाक्य बल से चेतना चेतनात्मक सम्पूर्ण जगत का ऐक्य प्राप्त होने पर भोक्तृजीव एवं भोग्य सम्पूर्ण जड़ विषय अभेद प्राप्तिकर रहते हैं, इस प्रकार का समाधान बताया है। सूत्र की आशंका का तात्पर्य यदि वस्तुतः ऐसा ही है, तो समाधान के समय “स्यात्” इस सन्मति सूचक पद द्वारा जड़ एवं चेतन का अभेद है सिद्धान्तित हो जाता है, परन्तु जड़ मिथ्यात्ववादी आप लोगों के पक्ष में ऐसा सिद्धान्त विरुद्ध होता है एवं सूत्रकार भी इसमें असम्मत होकर ही रहता है। सार्वभौम—अच्छा आप पुराणशास्त्र को वेदार्थ निर्णायक बताते हैं, और श्रीमद्भागवत को प्रमाण शिरोमणि जानकर स्वीकार करते हो; किन्तु इसी श्रीमद्भागवत में तो अनेकों स्थान पर जीव और ब्रह्म के अभेद का ही कीर्तन हुआ है। “त्रयाणामेकभावानां यो न पश्यति वै भिदाम्।

सर्वभूतात्मनां ब्रह्मन् स शान्तिमधिगच्छति॥”
(भा० ४/७/५४)
भगवान ने दक्ष प्रजापति को बताया,—“मैं, ब्रह्मा और रुद्र-ये तीनों ही एक स्वरूप हैं। सर्वभूतात्मा हम तीनों जनों में यदि भेद दर्शन नहीं करते, तो वे ही व्यक्ति मोक्ष प्राप्त करते हैं।” आपके मत से जीव तत्व ब्रह्मा और रुद्र एवं विष्णु से अथवा जीव और ब्रह्म में अभेद दर्शनकारियों की पाषण्डियों में गणना होती हैं, किन्तु आप जिसको प्रमाण शिरोमणि बताते हैं, उसी श्रीमद्भागवत में स्पष्ट रूप से बताते हैं, भेद दर्शनकारी का मोक्ष प्राप्ति-प्रसंग नहीं है। अतएव आपके मतानुसार ही हम प्रमाणित करते हैं—जीव और ब्रह्म में अभेद-सिद्धान्त ही वेद-वेदान्त और उसके अर्थ निर्णायक श्रीमद्भागवतादि पुराणों का मत है। महाप्रभु—ब्रह्मसूत्रों में भेद साधित होने के कारण श्रुति और पुराणादि सब निर्णायक ग्रंथों में कुत्रचित् भेद निषेध देखे जाने पर भी सूत्रानुसार ही उस वचन का अर्थ निर्णय करना कर्तव्य है, इसीलिए उसके साथ भेद निषेध-अर्थ में विरोध-निषेध ही प्रतिपादित होता है।
सार्वभौम—हम इस प्रकार का कपोल-कल्पित अर्थ स्वीकार क्यों करेंगे?
महाप्रभु—यह स्वकपोल कल्पना नहीं है, तत्व को विदगण ‘भेद’ शब्द का यह सब अर्थ बताते हैं—
भेद- हि विद्वद्भिर्मिथो भेदे प्रयुज्यते।

भ्रमे विरोधे-धीभेदे नाशेऽन्योऽन्ये विमिश्रणे।
असंयुक्ततयान्योऽन्योस्थितिश्चापि भिदोच्यते॥
भिन्ना सेना वित्रभेदः क्षीर-नीर विभेदनम्।
भिन्न नीरत्व-वाङ्माघे भिदूराम्भस्त्ववागपि॥
विमिश्रतामाह तस्मात्तस्माद्भेदो विमिश्रणम्।
द्वैधञ्च भेदोपायश्च पृथदग्धीः केत्युदीरितम्॥
छिन्नभिन्नमिति प्राहुर्नष्टं घटपटादिकम्।
भ्रमो भिदा भिनत्त्यर्थानन्यधीकुरुते यतः॥
पण्डितगण किसी स्थान पर भेद अर्थ में, किसी स्थान पर भ्रम अर्थ में किसी स्थान पर विरोध के अर्थ में, किसी स्थान पर बुद्धिगत पार्थक्य अर्थ में, किसी स्थान पर नाश के अर्थ में, किसी स्थान पर परस्पर मिश्रण के अर्थ में एवं किसी स्थान पर असंयुक्त रूप से दोनों वस्तुओं का अवस्थान अर्थ में “भेद” शब्द का प्रयोग करते हैं। “सैन्यगण भिन्न प्रकार से वर्तमान” है, इस स्थान पर ‘भिन्न’ शब्द में उसका असंयुक्त रूप में अवस्थान रहता है। “चैत्र और मैत्र” भिन्न इस स्थान पर भेद शब्द विरोध वाचक है, “क्षीर और नीर भिन्न” इस स्थान पर मिश्रण वाचक है, इसी प्रकार माघ-काव्य में—“एकत्र स्फटिक तटांशु भिन्न-नीरा-नीलाश्मतिभिदु रास्यसोऽपरत्र” इस श्लोक में मिश्रण के अर्थ में “भिन्न” एवं “भिदुर” शब्द प्रयुक्त हुआ है”—अतएव भेद

शब्द मिश्रणार्थक है, इसी प्रकार ‘द्वैध’ एवं ‘भेदोपाय’ ये दोनों शब्द बुद्धि भेद के अर्थ में प्रयुक्त होकर रहता है। इस प्रकार की ‘पृथकबुद्धि’ पदभ्रान्ति के अर्थ में व्यवहृत होते देखा जाता है। छिन्नपट, भिन्नघट—ये दोनों पद विनाश अर्थ में एवं भ्रम अर्थ वैपरीत्य-जनक रूप से भेद शब्द में युक्त होकर रहता है। “त्रयाणामेक-भावानाम्” इत्यादि भागवत श्लोकों का अर्थ स्पष्ट रूप से प्रतीत नहीं होता, इसलिए स्पष्टार्थक श्लोकान्तर के अर्थानुसार ही इसका अर्थ और वर्णनीय होकर रहता है। ब्रह्मा, रूद्र और विष्णु में कौन श्रेष्ठ है, यह विषय ऋषियों के मध्य विचार आरम्भ हुआ था। मुनिगण भृगु द्वारा वर्णित वाक्य श्रवण कर संशय-मुक्त होकर मोक्ष और अभय-प्रदायक विष्णु को ही सर्वोत्तम रूप से निर्णय किया था। (भा० १०/८९ अः) ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि सभी देवता अभिशाप एवं अनुग्रह प्रदान करने में समर्थ हैं, उनमें शिव एवं ब्रह्मा थोड़ी सेवा से ही अनुग्रह एवं थोड़े अपराध से ही शाप प्रदान करते हैं। भगवान थोड़ी सेवा से ही तुष्ट व थोड़े अपराध से रुष्ट नहीं होते। “हे विष्णो! प्रदीप जिस प्रकार अन्धकार का नाश करता है, उसी प्रकार आप भी हमारे हृदयगत अन्धकार को नष्ट करते हैं अतएव आपको ही मैं तीनों देवताओं में उत्तम मानता हूँ। देव, असुर एवं मनुष्यों में जो शिव की आराधना करते हैं, वे ही प्रायः धनवान् रहते हैं। “जो लक्ष्मीपति श्री हरि की सेवा उपासना करते हैं, वे प्रायः दरिद्र होते हैं।” इस सम्बन्ध में भागवत वचन द्वारा विष्णु का सर्वोत्तमत्व प्रतिपादन कर भेद स्थापित होता है। जैसे—“यन्मायया

गहनया।” इत्यादि भृगु वाक्य एवं “तव वरद! वराङघावाशिषा” इत्यादि रुद्रवाक्यों के द्वारा भगवान का सर्वोकृष्टत्व जाना जाता है। “त्रयाणाम्” इत्यादि वाक्य भी “एक भावानाम्” यह पद हेतुगर्भ विशेषण रूप से ही प्रयुक्त हुआ है। इस पद द्वारा उक्त श्लोक में तीनों देवताओं की बुद्धि भेद ही निषेध हुई है, ऐसा जाना जाता है। मुनिओं ने विचार पूर्वक सभीलोकों में गमन कर अन्त में जिस भेद का निर्णय किया है, वह व्यवहारिक नहीं हो सकता है। परन्तु “त्रयाणाम्” इत्यादि वाक्य में दक्षयज्ञ ध्वंश के समय उग्र रुद्र सेम्य दर्शन से भयभीत भृगु ऋषि के द्वारा उनकी प्रति के लिए प्रयुक्त होकर व्यवहारिक भेद निषेधपर हो सकता है। आपके मत से भी विशिष्ट-चेतना गत ऐक्य स्वीकृत नहीं होता है। अतएव “त्रयाणाम्” इत्यादि वाक्य आपको भी अमुख्य वृत्ति ही स्वीकार करनी होगी; इसीलिए विरोध रूप मुख्य अर्थ सम्भव होने पर अमुख्य वृत्ति स्वीकार करने की आवश्यकता क्या है? “हे मोहिनी! हमारे बीच जिससे भेद ना हो पाये, उसी प्रकार के भाव से सुधा बाँटो। हे ब्राह्मण, ऋषि गण किसलिए यदुगणों को श्राप प्रदान किया था एवं एक कृष्ण सब यादवों के अधीश्वर कहकर उनमें किस प्रकार का भेद उपस्थित हुआ था, उसे आप वर्णन करें” ऐसी रीति के अनुसार भागवत में उन-उन स्थानों में विरोध अर्थ ही ‘भेद’ शब्द का प्रयोग दृष्टि होता है। लोकों में भी साम-प्रभृति-उपाय चतुष्टय के अन्तर्गत भेद शब्द विरोध अर्थ में ही प्रयुक्त होता है। अतएव “त्रयाणाम्” इत्यादि भागवत वाक्य भी भेद-शब्द मुख्यरूप से विरोध वाचक ही रहता है। मुख्यार्थ के सम्भव स्थल पर ‘लक्षणा’

विद्वज्जन के द्वारा स्वीकार्य नहीं है। अथवा यह वाक्य ब्रह्मा, रुद्र एवं विष्णु के एक वस्तु विषयक मनोवृत्ति रूप ज्ञान के मध्य कोई भेद नहीं है, यही प्रतिपादन किया जाता है। यज्ञ के समय जिस विषय का प्रसंग हुआ था, निषेध भी उसी का होना संगत है। शैव एवं वैष्णवों का विरोध ही उसके लिए प्रसक्त हुआ था, मूर्तित्रय का अभेद प्रसक्त नहीं होता है, अतएव भेद शब्द में शैव और वैष्णवों का विरोध ही निषिद्ध हुआ है, ऐसी व्याख्या ही संगत है। वैकुण्ठ, सत्य लोक एवं कैलाश पर नित्य निवासशील विष्णु, ब्रह्मा एवं रुद्र का रूप भेद प्रसंग सर्वदा ही वर्तमान रहा है; केवल मात्र यज्ञ के समय उसका प्रसंग नहीं हो पाता है; इसलिए अन्य समय में उसका निषेध ना होकर केवल मात्र यज्ञ के समय उसका निषेध युक्तिसंगत नहीं है। किन्तु यज्ञ के समय उनमें प्रेमवशत: पूज्य-पूजक भाव ही दृष्टिगत होता है, अतएव इस श्लोक में विरोध ही निषेध है, भेद निषेध नहीं है, इसप्रकार कहना ही उचित है। यज्ञ के समय सभा में एकमुख, चतुर्मुख और पंचमुख, इस प्रकार विभिन्न आकृति विशिष्ट एवं चक्र, अक्ष माला और शुलरूप विभिन्न चिन्ह विशिष्ट विष्णु, ब्रह्मा एवं रुद्र में स्तोत्र-स्तव्य भाव और प्रणम्य-प्रणेतृ भाव में अवस्थान हेतु भेद ही सिद्ध हुआ है। ब्रह्मा, इन्द्र एवं रुद्र आदि देवगण समागत विष्णु का अवलोकन करके ससम्भ्रम से गात्रोत्थान-पूर्वक प्रणाम किया था। देवगण विष्णु तेज से हतप्रभ एवं भय से निर्वाक हो कर एवं मस्तक में हाथ जोड़कर उनके पास उपस्थित हुए। ब्रह्मादि देवगण ने विष्णु का महात्म्य सम्यक् रूप से जानकर भी अपनी-अपनी

योग्यता अनुसार स्तुति की। इस प्रकार पूर्वोक्त स्पष्ट वचन के द्वारा अस्पष्ट सभी वाक्यों का अर्थ भी निर्णय योग्य होता है। त्रैकालिक भेदज्ञ भृगु ऋषि भी तत् काल अभेद का वर्णन नहीं कर सके। यदि ब्रह्मादि देवगण भगवान के माहात्म्य-ज्ञान के प्राप्ति में ही असमर्थ हैं; ऐसा होने पर किस प्रकार उनके साथ ऐक्य प्राप्ति में समर्थ हो सकते हैं? “यन्मायया गहनया” इत्यादि भृगु वाक्य भी ब्रह्मा आदि देवगण एवं विष्णु में आश्रयाश्रयि-भाव-श्रवण हेतु स्वरूपगत ऐक्य निषेध ही रहता है। अतएव “त्रयाणाम्” इत्यादि अन्तिम वाक्य पूर्व और मध्य वाक्य के विरोधी नहीं हो सकते हैं। जो एक तात्पर्य-विशिष्ट आदि, मध्य एवं अन्त-श्लोक के मध्य अर्थ भेद दर्शन नहीं करते, वे भेदाभेद कलह से निवृत्ति प्राप्त कर सकते हैं। यदि ऐसे स्थान पर स्वरूप भेद ही निषेध होता है तब “रुद्र को यज्ञोच्छिष्ठ आहुति प्रदान करना कर्तव्य है” देवर्षियों का ऐसा आदेश वचन व्यर्थ हो जाता है, एवं प्रथमतः रुद्र को आहुति प्रदान न कराकर जिस कलह की सृष्टि हुई थी, वह भी आधार हीन रूप से प्रतिपन्न होती है। अतएव श्रुति- स्मृति प्रभृति शास्त्र निर्णीत सब पदार्थ में पारमार्थिक एवं अपारमार्थिक रूप से ये दोनों भेद वक्तव्य नहीं है, परन्तु मुख्य अर्थ में बाधा होने पर ही गौण अर्थ व्यक्त होता है।
सार्वभौम—
“भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्या-
दीशादपेतस्य विपर्ययोऽस्मृतिः। तन्माययातो बुध आभेजतं
भक्त्यैकयेशं गुरुदेवात्मा॥”

“द्वितीय वस्तु में अभिनिवेश होने पर जीव का भय उपस्थित होता है एवं विपरीत स्मृति उदित होती है; अतएव ज्ञानी व्यक्ति स्वयं को गुरु-ईश्वर अर्थात् ब्रह्म से अभेद ज्ञान से साधना करेंगे”-भागवत की इसी उक्ति से अद्वैत ज्ञान की प्रसंशा कर जीव और ब्रह्म में अभेदत्व ही अभ्यास करने के लिए बताया गया है। महाप्रभु—“भयं द्वितीयाभिनिवेशतः”—
इस भागवत वचन से “द्वितीय”—पद द्वारा अपनी देह-गेहादि का ही संकेत हुआ है। देह-गेहादि विषयक आग्रह से नरकभय होता है, अतएव भगवान की ही शरण ग्रहण करना कर्तव्य है-इस प्रकार ही श्लोकार्थ का वक्तव्य है, अन्यथा पूर्वोत्तर विरोध घटित होगा। यदि आत्मव्यतिरिक्त सभी पदार्थ “द्वितीय” पद-वाच्य कहकर तत्त्व-वस्तु विषयक आग्रह से उत्पन्न होता है, ऐसा अर्थ लिया जाये तो “भजेत्” इसी पद द्वारा भजन रूप द्वितीय पदार्थ का विधान भी असंगत होता है।
सार्वभौम—“गुरुदेवतात्मा” पद के द्वारा जीव-ब्रह्म में ऐक्य प्रतिपादित हुआ है। गुरु देवता-स्वरूप अर्थात पण्डितगण स्वयं को ब्रह्म स्वरूप की भावना कर साधना करते हैं यह ‘गुरु देवतात्मा‘-शब्द की स्पष्टता होने पर भी आपके द्वारा कथित व्याख्या बाधित हुई है। महाप्रभु—“गुरुदेवतात्मा” इस पद मे भी गुरु देवता स्वरूप है-ऐसा अर्थ नहीं है, परन्तु ‘आत्मा’ शब्द मनोवाचक जानकर उक्त पद में गुरुदेवतागण चित्त-ऐसे अर्थ द्वारा सेवक का गुणान्तर ही प्रतिपादित होता है। अन्यथा स्वयं ब्रह्मस्वरूप की भजनादि क्रिया समझने में असंगत लगती है।

इसी श्लोक में गुरुदेवतात्मक बुध जन का उद्देश्य कर भजन का विधान किया हुआ है; इसलिए गुरुदेवतात्मकत्वरूप विशेषण की अपेक्षा “लिङ” प्रत्यय का अर्थ भूत विधिरूप-भजन ही प्रबल है। अतएव शास्त्र रीतिज्ञ पुरुष में आपात प्रतीयमान अर्थ ग्रहण करना कर्तव्य नहीं है।
सार्वभौम—यहाँ निर्गुण ब्रह्म को ही अद्वितीय एवं उसके अतिरिक्त समस्त पदार्थों को ही द्वितीय व मिथ्या उपाधि रूप से वर्णन कर मिथ्या वस्तु में अभिनिवेश परित्याग की स बात वर्णित हुई है और आपके मतानुसार यदि “भजेत्” इस क्रिया का प्रधान ही स्वीकार किया जाये, ऐसा होने पर इस प्रकार भजन ईश अर्थात् सगुण ब्रह्म को लक्ष्य करके बोलने के कारण तद्रूप भजन क्रिया की व्यवहारिकता ही सिद्ध हुई है। अतएव ब्रह्म और जीव में अभेद ही सिद्धान्त है, जीव और जगत मिथ्या उपाधि मात्र है।
महाप्रभु—यदि द्वितीयाभिनिवेश भय का कारण होता है, ऐसा होने पर मुमुक्षुओं के लिए परित्यज्य है—इस प्रकार का अर्थ हो सकता है; परन्तु द्वितीय वस्तु का मिथ्यात्व किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता है। वैराग्य शील पुरुष के संन्यास अवलम्बन कर गृह का परित्याग करने पर उसके लिए जिस प्रकार गृह दग्ध नहीं होता, उसी प्रकार मुमुक्षुगण द्वितीय पदार्थ-विषयक अभिनिवेश का परित्याग करने से उसके द्वारा द्वितीय पदार्थ का मिथ्यात्व सिद्ध नहीं हो सकता है। द्वितीय वस्तु सर्व प्रकार से अविद्यमान होने पर खरगोश के सिंग के समान देखी जाती है। यदि देह गेहादि द्वितीय वस्तुको आपके मतानुसार

पारमार्थिक रूप से अविद्यमान कहा जाता है; ऐसा होने पर हम भी उसको स्वरूपतः अविद्यमान अर्थात् आगन्तुक कह सकते हैं। सर्वेश्वर सर्व नियन्ता विष्णु को परित्याग पूर्वक द्वितीय निर्विशेष ब्रह्म के विषय में अभिनिवेश शाल पुरुष का भय एवं विपरीत ज्ञान होता है। सशक्तिक मायाधीश पर ब्रह्म की अपेक्षा निःशक्तिक निर्विशेष ब्रह्म ही द्वितीय होकर रहता हैं। “स व्यापकतयात्मानम्” इत्यादि श्लोकों में हंस युगलों में व्याप्य-व्यापक भाव भिन्न भाव, परस्पर आश्रय भाव, बोध्य बोधक भाव एवं नित्य ज्ञान के लिए ज्ञान भाव वर्णित हुआ है। आत्मा को परब्रह्म के आश्रित एवं परब्रह्म को आत्मा के नियामक रूप से अवगत होकर तदीय ज्ञान परित्याग न कर इस संसार भ्रान्ति से निवृत हा थे। धूम, अग्निकणा एवं अंगार संसार के मध्य अग्नि रूप से प्रसिद्ध होकर भी वस्तुत: अग्नि जिस प्रकार इन सभी पदार्थो से पृथक्-स्वरूप है, उसी प्रकार भगवान विष्णु भी भूतपंचक, इन्द्रियगण, अन्तःकरण, प्रकृति एवं जीव से भिन्न होकर रहते हैं। श्रुतियों में-“अयमन्यः” “हमौ द्वौ” “भिन्नाविमौ” इत्यादि सब पदों के स्वरूप भेद व्यतीत अन्य अर्थ आदरणीय नहीं है। भेद-श्रुति समस्त जीवों का बद्धत्व, अपूर्णत्व, कर्म फल भोक्तृत्व आदि धर्म एवं ब्रह्म का नित्य मुक्तत्व, पूर्णत्व, कर्म फलभोक्तृत्व आदि धर्म कीर्तन द्वारा ही भेद प्रतिपादन करते हैं। नित्य पदार्थ समूहों में अतिनित्य एवं चेतन समूहों में उत्कृष्ट चेतन स्वरूप एक भगवान बहु जीवों के काम्य विषय रूप से सभी जड़ पदार्थों की सृष्टि करते हैं। जो उसको

आत्म मध्य में अन्तर्यामी रूप से दर्शन करते है, उसको शाश्वत सुख प्राप्त होता है। जो उक्त रूप से दर्शन करने में समर्थ नहीं है अथवा विरुद्ध भाव से दर्शन करते हैं, वे शाश्वत सुख को प्राप्त नहीं कर सकते हैं। “नित्यो नित्यानाम्” इस श्रुति द्वारा इसी प्रकार का सभी अर्थ कथित हुये हैं। “नित्यानाम्” इत्यादि पद में निर्धारणार्थक षष्ठी-विभक्ति का प्रयोग होने से सर्वज्ञत्व एवं नित्यदेह भी सिद्ध होकर रहती है। गुणावली के बारम्बार कीर्तन रूपी अभ्यास द्वारा सभी गुणों का श्रुति तात्पर्य विषयत्व निर्णय हुआ है। अनेक जीवों में अवस्थित भगवान के एकत्व-कीर्तन द्वारा अनन्त अवतार-रूप सभी में अभेद सिद्ध हुआ है। एकत्व दशा में भी भगवान का अनन्तत्व घटक शक्ति विशेष सिद्ध होने से तैत्तिरीय श्रुति- वर्णित पुच्छ के साथ पुच्छ-विशिष्ट आनन्दमय अभेद कैमुत्य न्याय के बल से सिद्ध हो जाता है। भगवद्मत निखिल गुणों का अभेद-कीर्तन हेतु गुण-समूहों का चिन्मयत्व एवं ध्येयत्व कथन होने के कारण भगवान का अभीष्ट देवत्व, सौन्दर्य और सुप्रसन्नता आदि गुण स्थापित हुए हैं। श्रुति के अनुसार जीव के अन्तःकरण में स्थित भगवान के सर्वज्ञत्व शक्ति, स्वन्त्रता, स्रष्टत्व, कामदातृत्व, मुक्ति प्रदत्त, सर्वेश्वरत्व, पूर्णत्व एवं नित्यत्व आदि गुणावली साधित हुई है। “चेतनानाम्” इसी बहु वचनान्त प्रयोग के कारण मुक्तगणों का बहुत्व, ब्रह्म को मुक्तगण स्वामित्व, एवं मुक्तगणों में भी आत्मगत भगवद्ज्ञान की स्थिति कथित हुई है। सभी जीवों में कोई-कोई आत्मस्थ भगवान से अवगत

रहते हैं, कोई-कोई उस विषय में अज्ञ एवं कोई-कोई उस विषय में विरुद्ध-ज्ञानविशिष्ट हैं। इस प्रकार जीवगत त्रैविध्य कथन-हेतु उससे परस्पर भेद एवं अभीष्टदायक भगवान से पार्थक्य साधित होता है। अतएव उपपत्ति के साथ जीव और ईश्वर का भेद स्थापित हुआ। मोक्षोपयोगित्व निबन्धन उक्त भेद अत्यन्त सत्य है। काम्य विषय के बहुत्व कीर्तन हेतु जड़ पदार्थ समूह का परस्पर भेद एवं ईश्वर के कर्तृत्व कथन द्वारा ईश्वर के साथ अका भेद सिद्ध हुआ है। जगत के सृष्टि कथन हेतु उसका सत्यत्व एवं “लट्” प्रत्यय प्रयोग होने से नित्यकाल वृत्ति निर्णीत हुई है। जीव के भोग के लिए जड़ सृष्टि कथन हेतु जीव और जड़-जगत में भेद साधित रहता है। इन सभी श्रुति पदों द्वारा एक जीव वाद, जीवगत अभेदवाद, जीव और ईश्वरगत अभेदवाद, जीवों का चिदरूपत्व, ब्रह्म का अकर्त्तृत्व, निर्विशेष ज्ञान का मोक्षण-साधनत्व, जगत का मिथ्यात्व एवं एककालीन सभी विमुक्ति दूषित हुई हैं। सर्व जीवोत्तम चतुर्मुख के पक्ष में भी भगवान के साथ ऐक्य श्रुति से निषिद्ध हुआ है। यदि उनका ही ऐक्य सम्भव नहीं है, तो ऐसा होने पर क्षुद्र जीवों का ऐक्य किस प्रकार संगत हो सकता है? हयग्रीव नाम के असुर द्वारा वेद अपहरण करने पर चतुर्मुख उसका उद्धार करने में असमर्थ हुए थे। परन्तु श्रीहरि ने मत्स्यादि अवतार लेकर सभी वेदों का उद्धार किया था; श्रुति से ऐसा ही जाना जाता है। श्रीहरि अपने गुण का परित्याग अथवा अन्य को उक्त गुण प्रदान नही करते हैं। तपस्या द्वारा उनकी आराधना करने पर भी वे किंचित मात्र कर्तृत्वादि गुण ही प्रदान करते है।

पौंड्रक राजा का स्वयं को कृष्ण बताकर प्रचार करने पर श्रीकृष्ण ने उसका वध किया था एवं शिशुपाल द्वारा स्वयं को लक्ष्मीपति बताकर अभिमान करने पर उसका भी संहार किया था; इसलिए दूसरा जो कोई भी उनसे साम्यबुद्धि करने पर वे उसे क्षमा नहीं कर सकते है। पौंड्रक-वासुदेव का “मैं ही कृष्ण हूँ” इस प्रकार के अभिमान के अतिरिक्त उसका और कोई अपराध नहीं था, इसलिए सोऽहं भाव ही यदि शास्त्र तत्व है, तो ऐसा होने पर श्रीकृष्ण ने किसलिए पौंड्रक का वध किया था? मधुसंग्रहशील भ्रमरों में स्थूल और सूक्ष्म भेद से दो प्रकार का जाति भेद रहा है। उन में स्थूल भ्रमर क्षुद्र भ्रमर को भक्षण करने लिए अपने स्थान पर लाकर वहाँ रखने से यह क्षुद्र भ्रमर सर्वदा अपने भविष्य संहारकर्ता स्थूल भ्रमर का रूप चिन्तन करते- करते स्वयं भी कालान्तर में उसी के सदृश स्थूल भ्रमर रूप में ही परिणत हो जाता है, इसी प्रकार जीव भी “अहं ब्रह्म” ऐसी चिन्ता करते- करते स्वयं ब्रह्म रूप प्राप्त करते हैं, यह मायावादियों का सिद्धान्त है, इस विषय में वक्तव्य यही है कि,-क्षुद्र भ्रमर स्थूल भ्रमर का ध्यान कर पूर्वोक्त स्थूल भ्रमर से पृथक अन्य स्थूल अमर रूप में ही परिणत होता है, पूर्व स्थूल भ्रमर का ऐक्य प्राप्त नहीं होता है; विशेषतः क्षुद्र भ्रमर स्थूल भ्रमर को अपने संहारकर्ता के रूप से ही चिन्ता करता रहता है; स्वयं को उससे अभिन्न रूप से चिन्ता नहीं करता है। मायावादी गण क्षीर एवं नीर दृष्टान्त अनुसार जीव-ब्रह्म की ऐक्य प्राप्ति बताते है; परन्तु क्षीर-नीर में भी मिश्रभाव ही रहता है, वस्तुतः ऐक्य प्राप्त

नहीं होता। यदि ऐक्य प्राप्त ही होता, तो अग्नि सन्ताप से जल का नाश एवं केवल मात्र क्षीर का पिण्डाकार में अवस्थान सम्भव नहीं होता; क्षीर एवं जल का उसके सदृश एकीभाव-स्थल में भी अम्लरस के संयोग से पुनराय पृथक् भाव दृष्टिगत होता, परन्तु वस्तुतः एक स्थल में उसके सदृश पृथक् भाव सम्भव नहीं है। इसलिए कर्मफल के भोक्तृत्व एवं अभोक्तृत्वरूप विरुद्ध-धर्म-निबन्धन जीव एवं ईश्वर का ऐक्य नहीं हो सकता है। जीव-मायावश, ईश्वर-मायाधीश, अतएव जीव और ईश्वर में नित्य भेद

श्रीश्रीजगन्नाथ मन्दिर में गरुड़ स्तम्भ के पास
श्रीमन्महाप्रभु। श्रीश्रीबलराम, श्रीश्रीसुभद्रा, श्रीश्रीजगन्नाथ
श्रीश्री पुरुषोत्तम धाम में श्रीश्रीजगन्नाथ देव की रथ यात्रा
के उपलक्ष्य में दृश्यमान तीनों रथ। गम्भीरा अन्तः प्रकोष्ठ मे श्रीमन् महाप्रभु

परिशिष्ट अंश
विः द्रः—
श्रीमद्भागवत जी महापुराण से वेद-स्तुति प्रमाण में पाया जाता है—
त्वमकरण: स्वराड़खिलकारकशक्तिधर
स्तव वलिमुद्वहन्ति समदन्त्यजयानिमिषाः। वर्षभुजोऽखिलक्षितिपतेरिव विश्वसृजो विदधति यत्र ये त्वधिकृता भवतश्चकिताः॥
भा:-१०/८७/२८
अनुवाद—आप प्राकृत इन्द्रियरहित, स्वरूपभूत इन्द्रिय द्वारा विराजमान और प्राकृत एवं अप्राकृत इन्द्रियों की शक्ति का आधानकारी हैं। खण्ड राज्य के अधिपति जिस प्रकार समग्र पृथ्वीपति को कर प्रदान करते हैं और अपनी प्रजा द्वारा प्रदत्व कर को ग्रहण करते हैं उसी तरह इन्द्रादि देव गण और उनके पूज्य प्रजापति गण मायादेवी के साथ आपको पूजोपहार प्रदान करते हैं, एवं मनुष्यदत्त यज्ञ का घृत आदि भक्षण करते हैं; जो जिस कार्य में नियुक्त हैं, वे भयभीत होकर उसी कार्य के सम्पादन में प्रवृत्त होते

हैं। इस श्लोक की टीका में श्रीधर स्वामीपाद बोले हैं—
सभी प्राणियों में अन्तर्यामी रूप से अधिष्ठित भगवान सेव्य हैं यह यदि कहा जाता है, तो ऐसा होने पर प्राणियों के उन-उन इन्द्रिय सम्बन्ध वशतः उसके कर्तृत्व और भोक्तृत्व में प्रसक्ति होती है, यदि कहा जाता है कि उसका वस्तुत: कर्तृत्व और भोक्तृत्व नहीं है तो ईश्वर की तरह जीव भी वास्तव कर्तृत्वादि नहीं है, ऐसा कहना होगा। यदि दोनों का कर्तृत्व और भोक्तृत्व अवास्तव होता है, तो दोनों के सेव्य और सेवक भाव का क्या विशेष रहेगा? उक्त आशंका का त्याग कर “अपाणिपाद” इत्यादि श्रुतिगण “त्वमकरण” इसी श्लोक के द्वारा स्तुति करते हैं। श्रुति का अर्थ—अपाणिवाद-हस्त-पादादि रहित अर्थात जिस जिस प्रकार जीव हस्त-पदादि की उपाधि में आसक्त है, ईश्वर अन्तर्यामी रूप से उस-उस करण में प्रवेश करते हुए भी अनासक्त है। “जवन”— भगवान व्यापक है, उनका का न रहने पर भी अन्य के लिए वेग शक्ति सम्पादक होकर वेगशक्तिमान है। ग्रहीता—सभी के धारक और अन्य के लिए धारण शक्ति प्रदानकारी, चक्षु आदि इन्द्रिय शक्ति रहित होकर भी स्वरूप ज्ञान के द्वारा सब वस्तुओं को देख और सुन सकते हैं। वे सभी विषयों में ज्ञानवान, अन्य कोई उसका ज्ञाता नहीं है। उनको श्रेष्ठतम पुराण पुरुष कहा जाता है। आप इन्द्रियसम्बन्ध रहित होकर भी सब प्राणियों की इन्द्रिय शक्ति के धारक अर्थात प्रवर्तक है, जिससे आप स्वतः ही दीप्तिमान अर्थात जिसकी ज्ञान शक्ति स्वतः सिद्ध है, उसकी इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं रहती अतएव अविद्या द्वारा आवृत इन्द्रादि

देवगण एवं उनके पूज्य ब्रह्मा आदि भी आपकी पूजा करते हैं। जिस प्रकार सस्त्रीक भृत्यगण प्रभु की सेवा करते हैं, उसी प्रकार अविद्या युक्त देवता आदि आपकी सेवा करते हैं। इस विषय में दृष्टान्त है-जिस प्रकार खण्ड राज्य का अधिपति समग्र पृथ्वी के अधिपति को कर प्रदान करते हैं, और अपनी प्रजा द्वारा प्रदत्त कर का भोग करते हैं; उसी प्रकार। किस प्रकार पूजोपहार वहन करते हैं? वह कहते हैं जिस कर्म में जो नियुक्त है, वे आपसे भयभीत होकर वह कर्म करते हैं अर्थात् आपकी आज्ञा पालन ही पूजोपहार दान है। श्रुति कहती है-“इनके भय से वायु प्रवाहित होती है, सूर्य उदित होता है, अग्नि, इन्द्र और मृत्यु अपना कार्य करते हैं।
जो देवता इन्द्रिय सम्बन्ध रहित होकर भी समुदय इन्द्रिय शक्ति के प्रवर्तक, सर्वज्ञ और सर्वाधीश्वर वे ही सर्वसेव्य देवता को प्रणाम करते हैं।
स्थिरचरजातयः स्युरजयोत्थनिमित्तयुजो विहर उदीक्षया यदि परस्य विमुक्त ततः।
नहि परमस्य कश्चिदपरो न परश्च भवेद्
वियत इवापदस्य तव शून्यतुलां दधतः॥
भाः—१०/८७/२९
अनुवाद—हे नित्यविमुक्त! यदि प्रकृति
से दूर अवस्थित आपकी माया के साथ ईक्षण (कदाचित् समुचित सृष्टि विषयक आलोचना) द्वारा विहार होता है; तो प्रकृति का विक्षोभ हेतु प्रकाशित जिस निमित्त से अर्थात कर्म और सूक्ष्म शरीर उसके साथ युक्त होकर और स्थावर और जंगम शरीरधारी जीव समुदय उत्पन्न होते हैं, किन्तु आकाश सदृश वैषम्य के अयोग्य, शून्योपम निर्दोष आपका कोई आत्मीय

और अनात्मीय नहीं हो सकता है। इसी श्लोक की टीका में श्रीधर स्वामीपाद बता रहे हैं—
इस प्रकार से इन्द्रियाधीन मानव, इन्द्रिय प्रवर्तक ईश्वर का भजन करते है, यह कथित हुआ। वे इन्द्रियों के प्रवर्तक हैं, केवल मात्र यही उनके भजन का कारण है ऐसा नहीं है; उनसे ही जीव उत्पन्न होते हैं, अतएव उनके अधीन इस कारण सभी जीवगण उनका भजन करते हैं। “जिस प्रकार अग्नि से क्षुद्र विस्फुलिंग निकलते हैं, उसी प्रकार परमात्मा से सभी इन्द्रिय, सभी कर्मफल इन्द्रिय और कर्मफल के अधिष्ठाता देवगण, ब्रह्मादि-स्थावर पर्यन्त सम्पूर्ण शरीर एवं समुदय आत्मा प्रकाशित होती हैं” आदि श्रुतियों में यही बात बताई गई है। हे नित्य-विमुक्त! यदि माया से दूर में वर्तमान अर्थात् असंग आपकी माया के साथ क्रीड़ा होती हैं, तो स्थावर और जंगम देहधारी सभी जीव उत्पन्न होते हैं। किस प्रकार क्रीड़ा होती है? सृष्टि के अनुसन्धान रूप ईक्षण के लेशमात्र से। प्रलय में समग्र विश्व ही तो आप में लीन होता है, पुनराय उसका उद्भव किस प्रकार होता है? इसके उत्तर में कहते हैं- आपके ईक्षण (दर्शन) मात्र से ही आविर्भूत कर्म और सूक्ष्मशरीर रूप निमित्त कारण से युक्त होकर वह उत्पन्न होता है। निमित्त के आविर्भाव का क्या प्रयोजन है, हमारी इच्छा से ही जन्म क्यों न हो? ना, आपमें कोई वैषम्य भाव नहीं है, इसलिए विषमा सृष्टि नहीं हो सकती, यह बताया है। परम कारुणिक और आकाश सदृश सम आपका कोई आत्मीय और कोई पराया सम्भव नहीं है। “सृष्टि के पूर्व में असत् अर्थात् शून्य था, उससे सत् जगत उत्पन्न हुआ” — इस श्रुति से सृष्टि के पूर्व शून्य था ऐसा

प्रतीत होता है, इसी आशंका की निवृत्ति के लिए उनके विशेषण कहते हैं शुन्य के सदृश्य धारणकारी। वही प्रदर्शन के निमित्त पुनराय विशेषण-‘अपद’, जिसको प्राप्त नहीं किया जाता अर्थात वाक्य और मन से अगोचर है।
हे पितः नृसिंह! आपके ईक्षण अर्थात सृष्टि विषयक आलोचना या दृष्टिपात वशतः माया से विक्षोभ घटित होता है, उसी से कर्म-विकसित होते हैं। वे ही कर्मवशतः समुत्पन्न होकर संसार में पुनः-पुनः गमनागमन में परिश्रान्त हो पड़ते हैं। हम दीन लोगों का परित्राण कीजिए।
अपरिमिता ध्रुवास्तनुभृतो यदि सर्वगता स्तर्हि न शास्यतेति नियमो ध्रुव नेतरथा।
अजनि च यन्मयं तदविमुच्य नियन्तृ भवेत् सममनुजानताम् यदमतम् मतदुष्टतया॥
भा:—१०/८७/३०
अनुवाद—हे नित्यस्वरूप! असंख्य जीव यदि नित्य और विभु होते हैं, तो उनका आपके शासन के अधीन इस प्रकार का नियम नहीं हो सकता है, अन्यथा अर्थात् विभु न होने पर यह सम्भव है। जिस ब्रह्म के कार्य से जीव नामक जो पदार्थ उत्पन्न होता है, वही ब्रह्म उस जीव को कारण रूप से परित्याग न कर शासक होते हैं। अन्तर्यामित्वांश से समस्त जीवों के प्रति तुल्य ब्रह्म को ‘जानता’ हूँ यह बात जो लोग कहते हैं, उनके निकट में ब्रह्म अविज्ञातप्रायः है, परन्तु इस प्रकार का ज्ञान दुष्ट कहकर भी वे अज्ञात रह जाते हैं। इस श्लोक की टीका में श्रीधर स्वामीपाद कहते हैं—

इस प्रकार से परमात्मा से उनका अंश जीव समूह अविद्या द्वारा (स्थूल और सूक्ष्म शरीर रूप) कार्य उपाधि युक्त होकर उत्पन्न होता है एवं संसार में यातायात करते-करते भजन करते रहते हैं, यह बताया गया। यदि अविद्या एक होती है तो जीव भी एक ही होगा अतएव एक जीव की मुक्ति से सम्पूर्ण जीवों की मुक्ति का प्रसंग उल्लेखित होता है अथवा अविद्या यदि अनेक हैं तो उसी जीव का ही दूसरा अंश में संसार -विनाश न होने से मोक्ष का अभाव होता है। इन सभी तकों द्वारा वस्तुतः आत्मा अनेक हैं यह प्रतिपन्न होता है। इसी मत से यदि आत्मा अणु परिमाण है तो ऐसा होने पर सका देहव्यापी अनुभव नहीं हो सकता है। यदि देह परिमाण होता है तब मध्यम परिमाण आत्मा अवयवविशिष्ट होकर अनित्य हो जाती है, अतएव जीव सर्वगत और नित्य है- ऐसा कोई-कोई (तार्किक) विचार करते हैं। इस विचार से पूर्वोक्त ऐक्य मुक्ति से सभी की मुक्ति या अनिर्मक्ष दोष का प्रसंग नहीं रहता है। अविद्या का (तत्कार्य देहादि उपाधि का) भेद व उनकी शक्ति (सत्वादि की) के भेद से बद्ध और मुक्त व्यवस्था सम्भव होती है, और ईश्वर के किसी भी अंश में यह संसार शंका नहीं है, (स्वकृत विचित्र योनि, और त्वमकरण श्लोक से) बताया गया है।
(तार्किक मत खण्डन कर स्वमत बता रहे हैं) आत्मा का एकत्व, सम्पूर्ण श्रुतियों में प्रसिद्ध और जीवात्मा अनन्त, नित्य और व्यापक है—इस मत को अन्तर्यामी ब्रह्मण सहन नहीं कर पाते हैं यह बताया गया है। वस्तुतः यदि जीव अनन्त एवं उसी प्रकार नित्य और सर्वगत हैं” तो हे ध्रुव! हे नित्य स्वरूप।

“वे शासन योग्य हैं” चुँकि वे सब आपके समान हैं। अन्यथा (हमारे अभिमत से) यही नियम संगत होता है। किस प्रकार सम्भव होता है? उपाधि वशतः जिसका विकार (कार्य) तुल्य जो जीव नामक वस्तु उत्पन्न होती है, वे कारणरूप में उसी विकार को परित्याग ना कर उसके नियामक होते हैं वे कौन हैं? सम अर्थात अणुसूक्ष्म (अन्तर्यामिरूप से अणु प्रविष्ट)। यत् और तत् शब्द से क्या जाना जाता है? यदि कहे कि यह वही है, तो इसमें बताते हैं (ब्रह्म को) जानता हूँ यह बात जो लोग कहते हैं उनके निकट ब्रह्म अविज्ञात प्रायः, जिस कारण वे ज्ञान का अविषय हैं। श्रुतियों बताती हैं ‘जो विचार करते हैं ब्रह्म को जाना नहीं जाता वे ज्ञान के अविषय रूप को जान पाये हैं और ब्रह्म ज्ञान का विषय होता है, इस प्रकार जिसका ज्ञान वे (ब्रह्म को) नहीं जानते हैं” “ब्रह्म को जानता हूँ यह बात जो कहते हैं उनके निकट ब्रह्म अविज्ञात है और जो कहते हैं कि उसको जानते नहीं हैं उसके निकट ब्रह्म विज्ञात है।” “वाक्य न कहकर ही ब्रह्म वाक्य और मन के अगोचर है यह ज्ञापन कर दिया, वे मौनी हो जाते हैं।” और भी इसी प्रकार ज्ञान का दोष श्रवण किया जाता है- कहकर वे अविज्ञात प्राय हैं। श्रुति कहती हैं—“यदि सोचो ब्रह्म का रूप उत्तमरूप से जानता हूँ तो तुम थोड़ा ही समझो। अधिदेवादि में जो रूप है उसे भी थोड़ा ही समझो।” अतएव यत् और तत् शब्द द्वारा प्रकाश्य, अतर्क्य, सर्वत्र अनुस्यूत होने से सम अर्थात् ब्रह्म नियामक होकर रहता है।
जो सब लोकों के अन्तर्यामी कहकर कीर्तित हैं, श्रुति और युक्तिद्वारा इसी प्रकार ही

ज्ञेय, सर्वज्ञ और सर्वशक्ति उन्हीं श्रीमान नृसिंह का मन के द्वारा आश्रय करता हूँ।
इसी श्लोक की श्रीधर स्वामीपाद कृत टीका
की सरल विवृति —“यद्येका विद्या” इत्यादि विचारांश एक-जीव-वाद और अनेक जीववाद अवलम्बन कर उत्थापित होता है। जीव ब्रह्म का प्रतिबिम्ब व अवच्छेदक नहीं है। किन्तु कर्ण जिस प्रकार कुन्तीनन्दन होकर राधानन्दन रूप से परिचित है। उसी प्रकार अविकृत ब्रह्म अविद्या द्वारा संसारी होते हैं और विद्या द्वारा मुक्त होते हैं। जैसे कोई राजकुमार व्याधकुल में सम्वर्द्धित होकर व्याध भाव प्राप्त करता है बाद में कोई आप्त व्यक्ति उसको “तुम व्याध नहीं हो, राजकुमार हो,” ऐसी बात कहनेपर उसका अपना व्याधत्व भ्रम नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार “तत्वमसि” अर्थात तुम ही ब्रह्म इत्यादि वाक्य श्रवण कर ब्रह्म का अपना (स्वीय) जीवत्व-भ्रम दूरीभूत होता है, फलतः अपनी अविद्या द्वारा जीव भाव प्राप्त ब्रह्म ही जगत कल्पना करते हैं। ईश्वर और जीव कल्पित हैं। एक जीव वाद-एक जीव है। अतएव एक शरीर सजीव दूसरा शरीर समूह स्वप्न दृष्ट बहु शरीरों की तरह निर्जीव है, उसके अज्ञान द्वारा समुदय जगत कल्पित है। जिस प्रकार जब-तक स्वप्न दर्शन होता है तब तक स्वाप्निक व्यवहार रहता है; उसी प्रकार जिस समय तक अविद्या रहती है, उसी समय तक सभी व्यवहार सम्पादन होता है। जीव जब एक है, तब उसके बन्धन, और मुक्ति की व्यवस्था भी नहीं है। इस प्रकार के स्वप्न दृष्टान्त द्वारा वे सर्वप्रकार आपत्ति खण्डन करते-रहते हैं। कोई-कोई “अधिकन्तु भेदनिर्देशात्” “लोकवत्तु लीला कैवल्यम्” इत्यादि वेदान्त

सूत्र द्वारा जीवातिरिक्त ईश्वर ही जगत का सृष्टा है; वे
पूर्णकाम होकर भी लीला वशतः जगत सृष्टि करते हैं, एक हिरण्य गर्भ ही ब्रह्म का मुख्य प्रतिबिम्ब स्वरूप है, दूसरे जीव समूह आभास, चित्रलिखित मनुष्य देह में प्रदत्त वस्त्राभास की तरह जीव हिरण्य गर्भ का प्रतिबिम्ब स्वरूप अर्थात् प्रतिबिम्ब का प्रतिबिम्ब, इस तरह से अनेक शरीर और एक जीव यही विचार स्वीकार करते हैं। इसलिए इस विचार से भी बन्धन एवं मुक्ति की व्यवस्था का अभाव दृष्ट होता है।
कोई-कोई मतवादी “तद् यो यो देवानाम् प्रत्यबुध्यत एवं तदभवत्” अर्थात् देवताओं में जिन्होंने ब्रह्म का साक्षात्कार किया था, वे ही ब्रह्म हुए थे, इसी श्रुति के अनुसार अन्तःकरण रूप अनेक उपाधि स्वीकार कर “अनेक जीववाद” आश्रयपूर्वक बन्ध मोक्ष व्यवस्था का प्रतिपादन करते हैं।
इन सभी सिद्धान्तों से अपरितृप्त होकर कोई-कोई दार्शनिक-जीव-भेद अविद्या का भिन्नत्व स्वीकार कर उसी अविद्या की अनुवृत्ति से बन्धन और निवृत्ति से मुक्ति की व्यवस्था का प्रतिपादन करते हैं; वे उदाहरण स्वरूप कहते हैं कि, अनेक सूत्रों के द्वारा जिस प्रकार एक वस्तु प्रस्तुत होती है उसी प्रकार समूह अविद्या द्वारा जगत की सृष्टि होती है। एक सूत्र का विनाश होने पद जिस प्रकार वस्तु का एकांश विनष्ट होता है, उसी प्रकार एक जीव की मुक्ति से एक अविद्या का विनाश होने पर वह मुक्त-पुरुष सम्बन्धी जगत-प्रपंच का विनाश होता है।

विवर्ताधिष्ठान-विवर्तका अर्थ होता है
— भ्रम। ‘अतत्त्तवतोऽन्यथाप्रथा’ अर्थात
तत्वतः वस्तु नहीं है, फिर भी उसकी अन्य प्रकार से प्रतीति है। जिस प्रकार रज्जू में सर्प भ्रम स्थल में रज्जू है, सर्प वहाँ नहीं है, किन्तु लम्बत्वादिरूप के सदृश्य, अन्धकार और दूरत्वादिरूप दोष के समावेश होने पर पूर्वदृष्ट सर्प का स्मरण मूल में प्रत्यक्ष होता है। इसी अयथार्थ प्रत्यक्ष को विवर्त या अध्यास कहते है।
“स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः” (ब्रह्मसूत्र अध्याभाष्य)
इस मत से ब्रह्म में ईश्वर जीव और जगत का
जो ज्ञान हो रहा है वह सत्य नहीं है, अधिष्ठान ब्रह्मही सत्य है। यही विवर्तवाद है। इसी विवर्त का अधिष्ठान व आश्रय ब्रह्म है।
श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु द्वारा
प्रदर्शित सर्व सिद्धान्त सार शिरोमणि— आराध्यो भगवान् व्रजेशतनयस्तद्धाम वृन्दावनं
रम्या काचिदुपासना ब्रजवधुवर्गेण या कल्पिता।
श्रीमद्भागवतं प्रमाणममलं प्रेमा
पुमर्थो महान् श्रीचैतन्यमहाप्रभोर्मतमिदं तत्रादरो
नः परः॥
(श्रीनाथ चक्रवर्ती ठाकुर विरचित)
स्वयं भगवान नन्द-नन्दन श्रीकृष्ण ही आराध्य, वृन्दावन उनका धाम है। वृज वधूगण कृत मधुर रस की उपासना ही सर्वोत्कृष्ट है, श्रीमद्भागवत अमल प्रमाण है, प्रेम ही परम पुरुषार्थ है। यही श्रीचैतन्य महाप्रभु का मत है। इसी में ही हमारा परम आदर है।

श्रीश्रीमन्नित्यानन्द-बलराम

नीलाचल में श्रीमन् महाप्रभु

नीलाचल में श्रीश्री जगन्नाथ देव की रथयात्रा महोत्सव